

श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचितम्

वृत्तिवार्तिकम्

(शिखा-संस्कृतहिन्दीव्याख्योपेतः)

व्याख्याकारः

प्रो० चन्द्रभौलि द्विवेदी

सम्पादकः

डा० शशिकान्त द्विवेदी

समज्ञा प्रकाशनम्

वाराणसी

श्रीमदप्पय्यदीक्षितविरचितम्

वृत्तिवार्तिकम्

व्याख्याकारः

प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी

अध्यक्षः

साहित्यविभागः

संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसंकायः

काशीहिन्दू विश्वविद्यालयः

वाराणसी।

*

सम्पादकः

डॉ० शशिकान्त द्विवेदी

प्रकाशन

समज्ञा प्रकाशनम्

वाराणसी

प्रकाशक व मुद्रक —

समज्ञा प्रकाशनम्

वाराणसी— २२१००५

दूरभाष — (0542) 316109

डॉ० शांतिशान्त द्विवेदी

सन् — २००२

मूल्य — ₹५०

रचयिता आवास संकेत

प्रो० चन्द्रमौलि द्विवेदी

N२/२९७ B-२ कटौती

पो०— सुसुवाही (B.H.U.)

वाराणसी— २२१००५

दूरभाष — (0542) 316109

सम्पादकीय

श्रीमदप्पय्यदीक्षित वेद तथा वेदाङ्गों के निष्णात, विश्रुत विद्वान् है। इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना कर अपने सभी शास्त्रों में पाण्डित्य का दर्शन करा दिया है। उपोद्घात में आप इनके शताधिक ग्रन्थों को देख सकते हैं। साहित्यशास्त्र में इन्होंने कुवलयानन्द तथा चित्रमीमांसा जैसे प्रौढ़ ग्रन्थ की भी रचना की है। यह 'वृत्तिवार्तिक' भी साहित्यशास्त्र के अन्दर यद्यपि परिगणित किया गया है किन्तु यह सभी व्याकरणादिशास्त्रों के लिए भी उतने ही उपयोगी जान पड़ता है।

इस वृत्तिवार्तिक की टीका अभी तक नहीं हुई थी जिससे इसकी पङ्क्तियों को स्पष्ट करने में कभी कभी विद्वानों को भी कठिनाई हो सकती थी छात्रों को तो थी ही। श्रीयुत् वायुनन्दन पाण्डेय जी ने एक विशेष उपोद्घात के साथ इस का प्रकाशन सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय से अवश्य कराया है तथा बहुत से विषयों को छोटे-छोटे शीर्षकों से स्पष्ट करने का भी प्रयास किया है जो स्तुत्य है किन्तु उससे पङ्क्तिपूर्वक अध्ययन करने के लिए स्पष्ट वाक्यार्थ का बोध नहीं हो सकता। अप्पय्यदीक्षित, पण्डितराज तथा काव्यदर्पणकुंदादि कुछ आचार्यों के मतों का निर्देश कर तथा दीक्षितमत का खण्डन उपोद्घात में है।

इस प्रकाशन में दीक्षितजी के वृत्तिवार्तिक की संस्कृत हिन्दी दोनों व्याख्याएँ दी जा रही हैं। पूज्य पिताजी से मैंने इसके लिए इस ग्रीष्मावकाश में प्रार्थना की थी। मेरी प्रार्थना को ध्यान में रखा इसके लिए मैं उनके चरणों की भूरि-भूरि वन्दना करता हूँ।

यह प्रकाशन कितना उपयोगी होगा इसके लिए तो विद्वद्गण साक्षी होंगे, यदि विषयगत कोई विद्वान् निर्देश देता है तो हम उसके अत्यन्त आभारी होंगे।

इस ग्रन्थ के उपोद्घात में अभिधा, लक्षणा के अतिरिक्त तात्पर्यरूपा आदि चार और वृत्तियाँ लक्षित की गयी हैं, इन वृत्तियों में गम्भीर शास्त्रीय (मम्मट, जयदेव, दीक्षित, पण्डितराज आदि आचार्यों के) मतों की उपस्थापना तथा यथोचित समर्थन, समालोचना, दिखलायी गयी है। विशेषतः ध्यानपूर्वक छवों वृत्तियों

को देखने के बाद परस्पर इनके अलग-अलग क्षेत्र स्पष्ट हो जाते हैं। साथ ही साथ वृत्तिवार्तिक के रहस्यों का उद्घाटन भी इस उपोद्घात में है। उदाहरण में जो श्लोक दिए गए हैं वे पिताजी के ही स्वनिर्मित हैं।

वृत्तिवार्तिक की व्याख्या के सहित मूलग्रन्थ के सम्पादन के समय मैंने एकविषयक सम्पूर्ण ग्रन्थ के मूल को एक साथ देकर उसकी व्याख्या भी उसके साथ ही है। इससे पाठक को एकविषयक समस्त विषय को पढ़ते समय बुद्धिविच्छेद की सम्भावना नहीं रहेगी। छोटे-छोटे उद्धरणों से बुद्धिधारा छिन्न भिन्न सी होकर चलने से विषय की दुरुहता हो जाती है, जिससे सरल विषय भी कठिन लगने लगता है।

मैं एक वस्तुनिर्देश कर अपना वक्तव्य समाप्त करना चाहूँगा। तीन चार वर्ष पूर्व जब मैं एम० ए० का छात्र था एक दिन लक्षणा पढ़ते समय मैं लक्षणलक्षणा और उपादानलक्षणा के भेद को नहीं समझ पा रहा था। मैं बार-बार यही कहता था कि जब "गङ्गायां घोषः" में गङ्गात्वेन तट उपस्थित होता है तो यहाँ भी तो उपादानलक्षण ही है, क्योंकि गङ्गात्व का उपादान तो तट में ही जैसे 'कुन्ताः प्रविशन्ति' में कुन्तधारी के साथ कुन्त का उपादान है। मैंने इसे कई लोगो से पूछा किन्तु या तो कोई मौन हो जाता था या हृदय में बैठने वाला उत्तर मुझे नहीं मिलता था। मैंने पिताजी से डरते-डरते पूछा, उन्होंने कहा, तुमने कुछ सोचा है या नहीं। यह तो जानते हो कि आचार्य मम्मट निःसन्देह वाग्देवता माने जाते हैं फिर जब उन्होंने उसमें भेद किया है तो अवश्य ही कोई भेद होगा, फिर स्वयं भेद समझो। मैं क्या समझूँ मुझे तो समझ में आ ही नहीं रहा था, दूसरे दिन उन्होंने पुनः मुझसे पूछा कि उत्तर मिला या नहीं, मैं चुप रहा। फिर उन्होंने कहा कि देखो, लक्षणा का विषय है वाधित अर्थ वाले स्थल में अवाधित अर्थ को लक्षित कर वाक्यार्थ को पर्यवसित कर देना। इसीलिए यह अभिधा की पुच्छभूता मानी जाती है। "कुन्ताः प्रविशन्ति" में तो प्रवेशन क्रिया में स्वतन्त्रतया वाधित कुन्त से अवाधित कुन्तधारी पुरुष की लक्षणा हो जाती है तथा प्रवेशन क्रिया में कुन्तधारी

पुरुष के साथ कुन्त भी वाक्यार्थ में अन्वित रहता है। किन्तु "गङ्गायां घोषः" में, वाधित प्रवाहार्थ से अवाधित तट की लक्षणा हो जाती है जिससे तट में घोष का अधिकरण बन जाता है। यदि घोष के अधिकरण के लिए गङ्गात्व का भी उपादान करने लगे तो गङ्गात्व अमूर्त तथा प्रवाहरूप होने से घोष का अधिकरण क्या बन सकता है? जिसे आप उपादानलक्षणा कहेंगे।

अतः इन दोनों का इस प्रकार अन्तर समझना चाहिए। गङ्गात्वेन तट की उपस्थिति से केवल तट में गङ्गागतशीत्यपावनत्व प्रतीतिरूप फल सिद्ध होता है, वाक्यार्थ से इसका कुछ लेना देना नहीं।

ऐसे ही अपप्यदीक्षित द्वारा निर्दिष्ट लक्षणलक्षणा तथा शुद्धा-साध्यवसाना में अभेद के निराकरण में भी अत्यन्त ही मार्मिक युक्ति ग्रन्थ में दर्शायी गयी है, तथा दोनों का भेद स्पष्ट किया गया है। ऐसे अनेक स्थलों में समुचित युक्ति का निर्देश मिलता है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ के सम्पादन से मुझे परमप्रसन्नता हुई है। मैं उन विद्वानों गुरुचरणों छात्रभाइयों एवं वहनो सब का आभारी होऊँगा जो इसे मनोयोग से पढ़कर इसमें कुछ अपना मत मुझे लिखित भेजने का कष्ट करेंगे। मैं विश्वास दिलाता हूँ कि मैं उनके द्वारा निर्दिष्ट विचार को ज्यों का त्यों अगले संस्करण में अवश्य दूँगा।

विद्वच्चरणमकरन्दलोलुपः
शशिकान्त द्विवेदी

उपोद्घातः

वृत्तिविमर्शः

वन्दे श्रीसद्गुरुं लोके लोभानाक्रान्तचेतसम्।
 यस्याशिषाल्पधीश्चन्द्रमौलिर्मौलीयति स्फुटम् ॥ १ ॥
 अम्बिकापरमानन्दसंदोहोदोहदायिनी।
 स्थिता हस्तङ्गुलीष्वग्रे लेखादौ पातु नः सदा ॥ २ ॥
 लास्यं नो तनुते यदीह गौर्या वृत्तेः, सदर्थेशितुः
 नृत्तं क्वात्र जगन्मयं व्यवहरत्यन्धो गिरा मानवः।
 तस्माल्लास्यपरा ममेह परमानन्दद्वयाम्बानने
 सुप्तां वाचममन्दभावभरितामुद्घाटयेदिष्टदा ॥ ३ ॥
 पीयूषं दधती वचःसुरगवी नो वृत्तिवत्सां विना
 स्नूयादामुदिता समीहितगुणालंस्वादपोषोद्धुरम्।
 तस्माद् वत्सतायाम्भावानपराः काव्यीयमर्मापये
 चिन्तयुः रचिता इमा दृढतरं वृत्तिर्मुदा कोविदाः ॥ ४ ॥
 वाणीगौर्या रसाजयपीयूषं पातुमिच्छुषु।
 षड्भिर्वृत्याननैरैकः सेनानीर्विबुधेष्वलम् ॥ ५ ॥
 शब्दार्थरससंबन्धा वृत्तयो बहुधा मताः।
 अर्थबोधानुकूला हि निरूप्यन्तेऽत्र षड् मया ॥ ६ ॥
 मुकुलमम्बुजिनीश्रुतवृत्तिषु कचयते जयदेवकविस्था।
 नवपरागकणान् हि विचाय स बुधवरोऽप्यलमण्यदीक्षितः ॥ ७ ॥
 तदत्र वृत्तिवार्तिकं न टीकितं बुधैरिति
 विचित्रभावगूहितं, विचार्य शिष्यहेतवे।
 समुद्यतिः सटीकितुं सभाषयार्यभाषया,
 मम बुटि, पदे पदे सहेत को बुधैर्विना ॥ ८ ॥

विषयप्रवेशः

अभिधावृत्तिनिरूपणम्

संकेतितार्थस्य साक्षात्प्रतिपादकत्वमभिधा। प्रतिपादकत्वमभिधा
 -नम्। 'साक्षात्संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः इति मम्मटः।
 'शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा' इति दीक्षितः। शब्दस्यार्थगतः
 अर्थस्यशब्दगतः सम्बन्धविशेषोऽभिधा इति पण्डितराजः।

'धर्मं कञ्चित्पुरस्कृत्य प्रायः शब्दः प्रवर्तते।

यथार्थः स्पष्टमाचष्टे शब्दस्तामभिधां विदुः॥

जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया।

निर्देशेन तथा प्राहुः षड्विधामभिधां बुधाः॥

गौर्नीलः पाचको दण्डी डित्थः कंस इति क्रमात्।

कंसं हि नस्ति कंसारिर्न च कं समाश्रितम्॥ इति जयदेवः।

इत्यादिभिरिक्षणैराचार्या अभिधास्वरूपं प्रत्यपादयन्।

करणाधिकरणार्थकितनूप्रत्ययो वृत्तौ गृहीतः। तत्राभिधा-
 वृत्तेर्व्यापाररूपत्वात् करणार्थकितनूप्रत्ययं स्वीकृत्याभिधादिषु
 वृत्तिपदप्रयोगः। वृत्तिनिरूपणप्रसङ्गे प्रतिपादकत्वपदेन प्रतिपादक-
 शब्दनिष्ठा प्रतिपत्तिहेतुरूपा काचिद्वृत्तिः स्वीक्रियते। यद्यपि
 प्रतिपादकशब्दनिष्ठज्ञानकरणकता, शाब्दबोधे भवति किन्तु
 पदार्थापस्थितौ वृत्तेरेव करणता। अतः प्रतिपादकनिष्ठशाब्दबोधा-
 र्थोपस्थितिः सम्बन्धिकरणत्वात्तत्त्वमर्थद्वयं लभ्यते। तत्र शाब्दबोध-
 करणतावारणाय 'शक्त्या' प्रतिपादकत्वमिति श्रीमदण्ण्यदीक्षिते-
 नोक्तम्। शक्तिस्तु साक्षात् सामर्थ्यम्। साक्षात् सामर्थ्यं तु, पदे
 व्याकरणोपमानादिना जायते। यथोक्तम्-

शक्तिग्रहो व्याकरणोपमानकोशात्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥

अतः मम्मटेनापि-

साक्षात् संकेतितं योऽर्थमभिधत्ते स वाचकः।

संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

स मुखोऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोच्यते॥" इति।

संकेतसहाय एव शब्दोऽर्थविशेषं प्रतिपादयतीति शब्दगतोऽर्थ-
 प्रतिपादको व्यापारोऽभिधा। पदगतोऽर्थप्रतिपत्तिहेतुकरणता शाब्दं
 प्रतिपादयितुम्। इत्थं शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधेति।

पण्डितराजेनात्रासंगितरात्रायश्च दोषद्वयं दर्शितम्। तत्रोक्तम्-

“इह शब्दाज्जायमानायामर्थोपस्थितौ कारणीभूतं यदीयज्ञानं सा शब्दवृत्तिरभिधाख्या लक्ष्यतया प्रस्तुता”। प्रतिपत्तिहेतुत्वरूपस्य शब्दगतस्य न ज्ञानं प्रतिपत्तौ कारणम् अतः कथं नाम प्रतिपादकत्वमभिधेति उच्यते”। इत्यादिनासंगतिर्दर्शिता। अत्र यदीयज्ञानं सा अभिधेति यदुक्तम्, तत्र पुच्छ्यते ज्ञानमभिधा वा जानहेतुः। चेन्न ज्ञानमभिधा अपितु यदीयज्ञानमिति यत्पदेन निर्दिष्टस्य तदभिधेतिस्तदानीमभिधासम्बन्धि कौदृशं ज्ञानमभीष्टम् ? शब्द-स्वरूपात्मकं वा तदर्थरूपात्मकम्। अभिधासम्बन्धि उभयारूपात्मकमपि ज्ञानं शब्दार्थोपस्थितौ न कारणीभूतम्। अतः शब्दार्थोपस्थितौ, अर्धप्रतिपत्तिहेतुरूपो यो व्यापारः साऽभिधेति वक्तुं प्रस्तुता।

इत्थं प्रतिपादकत्वस्यार्थप्रतिपत्तिहेतुत्वरूपस्य शब्दस्यैवार्थप्रतिपत्तौ कारणम्। यश्चात्माश्रयो दोषः सोऽपि न घटते। यतो हि पूर्व, शक्तिः संकेताभिन्नेति प्रतिपादिता न च संकेत एवाभिधा अपितु संकेतसहाये शब्दे अर्थनिरूपिताभिधा। इत्थं लक्षणे शक्त्यतिरिक्तैवाभिधेति नास्त्यात्माश्रयदोषः। न च “धान्येन धनवान्” इत्यादिवत् शक्त्याः प्रतिपादकत्वात्माभिधायारूपा सामान्यविशेषभावः। सामान्येन लक्षितस्य लक्षणस्य न विशेषलक्षणत्वम्। अतिव्याप्तिप्रसङ्गात्। मुकुलभट्टाभिहिताभिधाया वारणाय शक्तयेति। तदग्रहणे न तावन्मुख्यार्थमात्रप्रतिपादकत्वस्याभिधाया लक्षणसम्मवः। यत्तु शक्त्याभिन्नप्रतिपत्त्यनुकूलो व्यापारोऽभिधेति नागोशेनोक्तम् तत्रापि शक्तिपदेन संकेतात्मप्रतिपत्तिमच्छब्दाद्यनुकूलो व्यापारो ग्राह्यः। अथवा शक्त्याभिन्नप्रतिपत्तिरर्थोपस्थितिस्तदनुकूलो व्यापारोऽभिधेति।

गौरिशब्दः गौरित्यर्थ इत्यादिना तथा च “स्व रूपं शब्दस्य” इत्यादिना शब्दस्य स्वार्थस्वरूपयोरुभयोर्ग्रहणं क्रियते, तेन शब्दस्य शब्दगता, अर्थस्यार्थगता शब्दस्यार्थगता अर्थस्यशब्दगतेति चतुर्धा-भिधा प्रतिपत्तुं शक्यते। तत्राद्यस्य इत्यादिर्यदृच्छाशब्दः। इत्यादिशब्दानामन्यबुद्धिनिर्गन्धं स्रष्टवकम् स्वरूपं संज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। संज्ञिषूपाधित्वेन यदा सन्निवेश्यते तदानीं शब्दस्यार्थगतः। चतुर्विधेषु संकेतातिरिक्तेषु शब्दस्यार्थगताभिधा मन्तव्या।

अर्थस्यार्थगता अभिधा, अर्थशक्तिरूपा। यदा अभिधा-मूलार्थशक्त्युत्पत्तौ ध्वनिर्भवति तदानीं वक्तुर्बोद्धव्याद्यर्थेन पूर्वं वाच्यार्थे सामर्थ्यमुत्पाद्यते तदानीं वाक्यार्थो, वाच्यार्थो वा कमप्यर्थमभिव्यङ्कतः। अतः उक्तं आचार्यमन्मटेन-

‘अर्थशक्त्युद्भवोप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः’ इति। अर्थस्य शब्दगतस्तु ‘कं संहिनस्ति कंसारिर्न च कं समाश्रितम्। कं संहिनस्ति इति वाच्यस्य कंसारिरित्यत्राभिधा। कंसरिः कं संहिनस्ति इति कृते प्रश्ने, कं समाश्रितं नरम् इति वाच्यार्थस्य नरकं, नरकासुरमिति शब्दे अभिधा तथा च कमाश्रितं सम् इति वाच्यस्य कसमिति शब्देऽभिधा। इत्थं सर्वमनुसन्धाय जयदेवेन चन्द्रालोके निर्दिष्टम्-

जात्या गुणेन क्रियया वस्तुयोगेन संज्ञया निर्देशेन तथा प्राहुः पञ्चविधामभिधां बुधाः। इति।

पण्डितराजेन - शक्त्याख्योऽर्थस्य शब्दगतः शब्दस्यार्थगतः सम्बन्धविशेषोऽभिधा इति लक्षणं कृतम्।

तत्र प्रष्टव्यम् - अर्थस्यशब्दगतः सम्बन्धविशेषः कौदृशः। शब्देन वाक्यं गृहीत्वा, वाक्यार्थस्य वाक्यगतः सम्बन्धविशेषोऽभिधेत्यन्विताभिधानवादिनां मतेनाभिधा लक्ष्यते चेत्तदानीं त्रिविधा-भिधाया उदाहरणत्वेन दर्शितानां इत्थ-पाचक, पङ्कजादीनां कथमनुकूलत्वम्।

पदार्थमात्रे चेत् तदानीं सान्तरार्थतदनुकूलिपुण्ड्रानिष्ठलक्षणाया-मित्यपि। तस्या अपि सम्बन्धविशेषत्वात्। अर्थनिष्ठत्वाच्च।

मुख्यार्थविषये यः संख्याभेदआचार्यैर्निर्दिष्टस्तत्र महाभाष्यस्य ‘गौः शुक्लश्चलोऽदित्य इत्यादौ चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिरिति मूलमस्ति अत्राचार्यमन्मटेन चतुष्टयी चतुरवयवात्मिका प्रवृत्तिरुपाधिरिति कृत्वा उपधेयस्यैकस्यैव कृते चत्वार उपाधयो निर्दिष्टाः। तथा च जातिपक्षे प्रवृत्तिः जातिः। जातिगुणक्रियायदृच्छादि-चतुष्टयशब्दानां तदुद्गतात्वेन भिन्नाऽपि जातिर्नाम्ना एकैवेति इति चतुष्टयी जातिः।

आचार्यजयदेवेन ‘इत्यादौ’ पदस्यादि पदेनोक्तातिरिक्तसंज्ञा-निर्देशयोरपि ग्रहणं कृतम्। अत्र प्रवृत्तिरभिधास्ति। तथा च प्रत्येकं जात्यादौ अभिधा गृहीता। मुकुलभट्टेनापि दशधाभिधानिरूपणप्रसङ्गे चतुर्षु विभक्ततयैवाभिधा निरूपिता।

एतेषु यया शक्त्या अभिधा प्रवर्तते सा सिद्धधर्मात्मवस्तुषु संज्ञासु च केवलसमुदायात्मिका साध्यधर्मात्मवस्तुषु केवलवयवात्मिका तथा च वस्तुयोगात्मवस्तुषु उभयात्मसंकरात्मिका निर्देशात्मिकेति। एतेष्वाद्यायां गौः शुक्लः इत्यादीनां ग्रहणम्। तत्र केवलं समुदायशक्तेः सद्भावादवयवशक्तेरभावात्। न च ‘गौः’ पदस्य ‘गमेऽ’ इत्यादिना

व्युत्पादनात् गृह्यतीतिगौरिति अवयवशक्तेरुल्लासः कल्पनीयः, शयितायां गवि तस्याः प्रवृत्तिनिमित्तस्याभावात्। न केवलं व्युत्पत्तिमात्रेणैव तत्रावयवशक्तेरुल्लासो मन्तव्यः। डिध्यादावपि डिम्बेषु तिष्ठति' इति मध्यमपदलोपिसमासाश्रयत्वेन व्युत्पादयितुं शक्यत्वात्। अतश्चोक्तमभियुक्तैः 'अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तमन्यच्च व्युत्पत्तिनिमित्तमिति' अतः शब्दानां प्रवृत्ती तु केवलसमुदाय-शक्तैरुल्लासः स्वीकर्तव्यः।

द्वितीयायां तु चलः, पाचकः पाठकः। पूर्वापरीभूतावयवः क्रियारूपः साध्यधर्मः। अत्र चलतीति पचतीति चलः, पाचकः, इत्यदिशब्देषु धातुप्रत्ययबोधयोरर्थयोरन्वयेनैवोल्लासाच्चलनपाक-कर्तृत्वरूपोऽर्थोऽभिधीयते। अतोऽत्र केवलावयवशक्तिः। तृतीयायां तु दण्डौ, पङ्कजं इत्यादय उदाहरणानि। अत्र वस्तुयोगेनाभिधा-प्रवर्तते। दण्डः, अस्ति अस्येति विग्रहेण सर्वदण्डग्रहेषु नरेषु अभिधावारणाय दण्डग्राह्यतिरिक्तस्य केवलस्य सन्यासिनां ग्रहणं क्रियते। अतः प्रकृतिप्रत्ययावयवशक्तिवेद्यानां दण्डग्रहणकर्तृणामा-काङ्क्षादिवशादन्ये जाते दण्डग्रहणकर्तृरूपादर्थान्तिरिक्तस्य सन्यासिनः प्रत्ययेन तदर्थं समुदायशक्तेरपि कल्पनादुभयोः संकरः। एवमेव पङ्कजेऽपि पङ्कजनिर्कर्तृरूपात्सर्वैवलाघ्यान्तदतिरिक्तस्य पद्ममात्रस्य ग्रहणदवयवसमुदाययोरुभयोः शक्त्योरुल्लासात् संकरो मन्तव्यः। यत्रार्थस्य शब्दगताभिधा तत्र यौगिकरूढनाम्ना गृह्यते। कंसारिः कं हिनस्ति इति प्रश्ने नरमाश्रितं कं (हन्ति)।

अत्र नरमाश्रितं कं, (अहन्त्व) इति नरकं योगः, नरकमिति असुरे रुढिः। यदा नरकमिति अभिधीयते तदानीं नराश्रिता-हन्त्वस्यानन्वयात् नरकासुरे न तावत् तृतीयायाः शक्तेरुल्लासः। यदा नरकमिति असुरे गृह्यते तदानीं रुढेः साम्राज्यात्। अश्व-गन्थां पिबेत् अश्वगन्धा वाजिशाला इत्येकस्यैव पदस्य पिबेत्-वाजिशालेतिसन्निहितपदाभ्यामुपगतार्थस्यैव अभिधा तत्र तत्र प्रसज्यते। अतोऽत्र निर्देशेनेति जयदेवाकतेनाभिधाप्रसक्तिः मन्तव्या। इत्थं चतसृष्वप्यभिधासु शब्दस्य शब्दगता अर्थस्यार्गता चेत्तुभयो-रतिरिक्तभ्यां शब्दस्यार्थगताऽर्थस्य शब्दगतेतुभयोः क्षेत्रं साहित्यशास्त्रे विशेषेण निरूपितप्रारं लभ्यते। अतोऽतिरिक्तमेतयोः क्षेत्रमपि निर्दिश्यते।

श्लेषश्लेले अनयोरेवाभिधयोरुल्लासः। तत्रार्थस्य शब्दगता-

भिधा अर्थभेदेन शब्दभेद इति न्यायाद् वर्ण-पद-लिङ्ग-भाषा- प्रकृति-प्रत्यय-विभक्तिवचनानां भेदादष्टधा। तथा च मम्मटोक्तार्थश्लेषस्य विषयो यत्र

स्तोकैर्नोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।

अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥

इत्युदाहृतम्। एतत् सर्वं मन्तव्यम्। अर्थस्य शब्दगतत्वेऽभि-धायां हेतुः व्याकरणोपमानादिः सर्वोऽपि ऋते कोषात् संकेतग्राहकः। एतेषु पदश्लेषो यथा — ममैव —

जननीरागहेत्वन्तर्मोदमारुधानाश्रमम्।

रसान्तरार्थसम्बद्धमावयोर्वचनं समम्॥

जनानां नीरागहेतुः, अन्तर्मोदमाया (लक्ष्म्याः) आराधनेऽश्रमं, रसान् अन्तरा येषां तैःसम्बद्धम् मे वचः, तथा च जनन्या जगन्नातूरागहेतुः, अन्तर्मोदमारुधानायां श्रमं, रसां धरामन्तरा, लोकोत्तरा ये अर्था तैः सम्बद्धं, तव वचनमिति।

पदश्लेषौ यथा —

जलागाधान्तरतलं सदाहंसाश्रितं चलम्।

मानसं मेऽनपापं ते सदृशं हिमवतः ध्रुवम्॥

मे मानसं जडमागाधान्तरतलं यस्येति तत्। डलयोरभेदात्। सदाहं साश्रितं चलं अपापरहितं सपापमिति। तथा च हिमवतः मानसं (मानसरोवरः) जलेनागाधान्तरतलं हंसाश्रितं नापगता आपः अस्य, तत्, अनपापं, सर्वथा सजलमिति पदश्लेषः।

वर्णश्लेषो यथा — ममैव —

मनो निर्विण्णं सन्ननुपमसमाधिप्रणिहितं

निमीलनेत्रान्तर्भवमधुररूपापरिचितम्।

समद्री संवासाद् भवति विवुधैर्विद्वदपदः

शुक ! स्थाणोः कस्मात्तव नहि भवेद् धेहि विधुतिम्॥

निर्विण्णं क्लेशात्। समाधिर्मनोव्यथा तथा निमीलनेत्रान्तस्त्वेन सांसारिकवस्त्वर्थानभिज्ञं, समद्री सामान्यवृक्षे इति शुकपक्षे। तथा च स्थाणुशिवपक्षे, समद्री सत्यवर्ते कैलासे। अत्र दुः, अद्रिः, इति प्रकृतिकयोः सप्तम्यामेकमेव रूपम्।

लिङ्गश्लेषे यथा — ममैव

राधारक्ताभपादाश्रयणसमायिनी भास्वानन्तरश्चि-
प्राग्भारालोकभानुं स्फुरदमलदलददर्शनाद् धारयन्ती।

सर्वब्रह्माण्डकाण्डप्रसवशिवसमाधारभूते हिताप्तौ
तप्तानां शर्म सद्यः गुरुहृदि तनुतां द्रष्टुं हरेर्विध्यं पदमे॥

अत्र हरेर्द्रु राधाचरणसमायिनी विमलस्फुटावलोकनेन भानुं
सूर्यं धारयन्ती, सूर्यमयीति, ब्रह्मशिवयोराधारभूता, तप्तानां
द्रुःखदुर्भरचित्ते अभिलषितातिविषयकं सुखं तनुताम् विस्तारयतु।
तथा च पदमे, पदमापदमरूपे, पदमे, पदमापिणे राधोति कार्यमिति
राधादिपदं बोद्धव्यम्। द्वयोरपि पदमयोः नपुंसकमनपुंसकेनेत्यादिना
नपुंसकानुसारिलिङ्गवचनादिः। अतः नपुंसकस्य द्विवचने समयोऽस्ति
अनयोरिति समयिनी, द्वेऽपि, भानुं (चन्द्र सूर्यं वा) धारयन्ती 'हिताप्तौ'
आधारभूते चेति शर्म सुखं तनुताम्, परस्मैपदे द्विवचनस्य रूपम्।

प्रकृतिश्लेषो यथा ममैव

देयादनुपमां शक्तिं सुहृदादुर्दममयम्।

श्रीलो विद्वद्वरेभ्यश्च मुग्धेभ्यः स्यान्नपुः सुधीः॥

अत्र, देयादिति दा दामं दोषखण्डने, तथा श्रीलेत्यत्र ला
आदाने, लीड्श्लेषे, श्लेषणं प्रच्छादनमिति। उभत्र प्रकृत्योः श्लेषः।
प्रत्ययश्लेषो यथा — ममैव—

भास्वत्सूर्यसहस्रभास्वरपदाङ्गुल्युक्तदोषासनात्

उद्यच्चन्द्रविनिःसरत्प्रभसदगण्डानालोकनात्।

गौरि ! स्यान्मिता यशःप्रमदभा सम्पत्सुखाधायिता

लोकालोकमहाद्रिमुखविधुताम्भोजाङ्घ्रिधूलौकणे ॥

अत्र नमिर्तु आधायितुं इति तच् प्रत्ययान्तस्य सुविभक्तौ
नमितादिपदम्। स्याम् इति उत्तमपुरुषैकवचने। तथा च नमोऽस्ति
अस्येति णिनिप्रत्यये, नमी तस्य भावो नमितेति, व्युत्पत्त्या मे
प्रणामादिस्तवचरणयोः स्याद् इति बोद्धव्यम्।

अत्र स्यात् स्याम् इति तिप्पिपोस्तथा च नमितादौ तृचतलयोः
प्रत्यययोः श्लेषः।

विभक्तिश्लेषो यथा ममैव—

गोपाय भवसर्वस्वं दातास्यन्वज्जगद्भर।

आयासि निखिलं तेजःप्रतापेनैव वर्तनम्।

अत्र भवसर्वस्वं रक्ष तेजःप्रतापेनैव क्रौर्याग्निप्रकृतापेनैव
आयासकारि वर्तनं आचरणं, धर धारय, जगत् दातासि खण्डयितासि,
श्व एव खण्डयिष्यसीति। हर— हरणं कुरु।

तथा गोपाय श्रीकृष्णाय भवसर्वस्वं दाताऽसि भक्त्या

समर्पयिताऽसि अन्यद् वशीभूतं जगत् धर धारय। तेजःप्रतापेनैव
निखिलां स्थितिं महत्पतिष्ठां आयासि प्राप्नोसि इति।
अत्रासत्सतोर्व्यवहारः श्लेषेण दर्शितः। गोपायेति सिपुडेविभक्त्योः
दातेति, लुटितिपुसुपोः आयासीति सुपुसिपोर्विभक्त्योः श्लेषः। तथा
भेदाभावात्प्रकृत्यादेर्यथा ममैव —

स्वल्पेनैवान्यतापेन पात्रजाड्येन वा समा।

द्रवतस्तिष्ठतो वृत्तिर्धृतस्य साधुचेतसः।

यत्र च शब्दस्यार्थगताभिधा तत्र नानार्थकस्थलं गृह्यताम्।
कोशव्यवहाराभ्यामत्र नानार्थेषु संकेतः। संयोगादयः शब्दार्थसंशयं
निवार्य विशेषार्थस्मृतिमुत्पादयन्ति। यथोक्तम्—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

सामर्थ्यमौचित्योदेशः कालो व्याप्तिः स्वरादयः।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।

यथा रामार्जुनगतस्तयोरित्यत्र तयोर्विरोधिनां विरोधवशात् विरो-
धितैव रामस्य परशुरामबलरामदाशरथिरामादिकार्थकस्य तथा अर्जुनस्य
कौन्तेयवर्णतरुसहस्रार्जुनादिकार्थकस्य च नानार्थकस्य विशेषार्थे
परशुरामसहस्रार्जुनात्मके स्मृतिरूपघटे नान्यस्य तथैव रामेण
प्रियजीवितेन न कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् इत्यत्रागतस्यापि रामपदस्य
केवलं दाशरथेर्यस्य स्मारकत्वात् विशेषस्मृतिहेतुत्वम्। केवलमियानेव
विशेषः यदाद्योदाहरणं शब्दार्थस्य निर्णये संशयमुत्पादयति द्वितीयं
झटिति संशयमनुत्पाद्यैव विवक्षितार्थं विश्राम्यति। अतः
'शब्दार्थस्यानवच्छेदे' इति विशेषणं सार्थकम्।

अनवच्छेदः संशयः। स च नानाकोटिक एव। अतो यदा
नानार्थानां नोपस्थितिः स्यात्तदानीं कृतः संशयः। अतः स्पष्टमस्ति
यदभिधया नानार्थोपस्थितौ सत्यामेव संयोगादीनामुपयोगित्वम्।
संयोगाद्युपाधिमदभिधया विशेषार्थस्मृतिः विशेषशक्त्यर्थबोधायेति
स्पष्टम्। न च संयोगादिरेवाभिधा तदनेनस्थलेऽपि तस्याः सत्त्वात्।
अतो संयोगादिर्द्वितीयाथस्य प्रतिबन्धकः।

अतः नानार्थस्य शब्दस्य सकलार्थानामुपस्थितावभिधया जातायां
पुनः संयोगादिना एकार्थमात्रविषयायाः पदार्थोपस्थितेरन्वयबोध
इत्यर्थमेव 'शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' इति वचनम्।
अतो नात्राभिधया एकमार्थस्मृतिः नाप्यपराधोपस्थापनप्रतिबन्धकत्वम्।

इत्यमेतदपि वक्तुं सुकरम् यत् नानार्थोपस्थितेरनन्तरं संयोगादि-
नेकस्यार्थस्य स्मृतिः तदनन्तरं व्यञ्जनेनापरेषामर्थानामुपस्थितिरत
एवाभिधामूलत्वमस्य। अतो मम्मटेनोक्तम्-

अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।

संयोगाद्यैवाच्यार्थधीकुट्टं व्यापृतिव्यञ्जनम्॥

अनेकार्थवाचकत्वेन अर्थस्यापि ग्रहणदर्थविशेषे नियन्त्रिते
तदितरार्थ एवावाच्यार्थः, तदितरार्थधीजनको व्यापारो व्यञ्जना। ननु
नास्ति व्यञ्जना, तस्यापि कृतेऽभिधैवेति चेन्न। सामान्यतया
नानार्थकशब्दात् सर्वेषामर्थानामुपस्थितौ तस्याः कृते उपयोगे पुनः
विशेषस्यार्थस्य कृते उपयोगो न समीचीनः। 'शब्दबुद्धिकर्मणां विस्मय
व्यापारभावः' इत्यस्य जागरूकत्वात्। ननु प्रथमार्थविशेषस्यापि
कृते न तस्या उपयोग इति चेत् सत्यम् किन्तु अभिधायाः साक्षादर्थ-
बोधकत्वेन स्वीकृतायां साक्षात्बोधकत्वं प्रथमार्थं झटिति घटितत्वात्
तथैव संग्रहकरणे लाघवम्। प्रथमवाक्यार्थबोधानन्तरं कालव्यवहित-
द्वितीयार्थोपस्थितौ तदितरव्यञ्जनायां स्वीकारे एव लाघवम्। यथालक्षणं
व्यवहर्तव्यत्वात्। अतएवोक्तम् पञ्चम् उल्लासे नियन्त्रणेना-
नभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवादं
व्यङ्ग्यत्वम्' इति।

अतः संस्कारतदुद्बोधकयोः सत्वे स्मृतेः प्रतिबन्धस्य क्वाप्य-
दृष्टत्वात्' इत्याद्युक्तिरपास्ता। नहि तावत् संयोगादेरपराधोपस्थितौ
संस्कारः कुतः तदुद्बोधकत्वम्। अत एव पयो रमणीयमित्यादौ
प्रकरणाभिज्ञैरप्रकरणांशो ब्रूयन्ते नूनमस्य दुष्ये तात्पर्यं शब्दस्य न
जल इति।

यत्र तु नास्ति संयोगादेर्विनियोगस्तत्राभिधयोपस्थितानां
सर्वेषामर्थानां तथैव बोधे नास्ति क्षतिः। अतः श्लेषस्थले सर्वस्यार्थस्य
कृते अभिधैव व्यापारः स्वीक्रियते। अतः किमयं नानार्थस्थले सर्वत्रैव
व्यञ्जनोल्लेखः आहोर्बोक्तवचिदेवैत्यादि विकल्पस्योत्थानमेव निर्मूलम्।
तात्पर्यज्ञानकारणता संयोगादौ स्वीकार्या न त्वभिधायी कृतो विवादः।

ननु यथा व्यञ्जनस्य भिन्नतयाव्यापारगणने प्रयासस्तथैव
संयोगादेरपि कथं नेति चेत् सत्यम्, संयोगादेः साक्षात् विशेषार्था-
भिधायकत्वे अभिधाया अपि तथात्वे, नानार्थैरस्थलेऽप्यभिधायाः
साक्षादभिधायकत्वे च सामान्यविशेषभावादभिधायामेव
संयोगादेरन्तर्भावः। व्यञ्जनायास्तु तदभिन्नस्थलेषु दृश्यत्वात्

साक्षादर्थप्रतिपादकत्वाभावात् भिन्नतयोपादानमावश्यकम् अथवा
संयोगादयो संकेतग्रहायोपाय इति मन्तव्यम्, यथा नानार्थकशब्दस्य
कोषादिना गृहीतसंकेतस्य नानार्थोपस्थापकत्वं तथैव नानार्थकशब्दस्य
संयोगादिना गृहीतसंकेतस्य विशेषार्थोपस्थापकत्वमिति मन्तव्यम्।

"हनैव कृतं नानार्थस्थले व्यक्तिकल्पनये"ति यदुक्तम् तन्न।

षष्ठ्यञ्जना न स्वीक्रियते तर्हि केवलमर्थनिष्ठत्वेन
अनुमितादौ कटाक्षपातादावेव गृहीताया व्यञ्जनाया स्वीकृतिः, कथं
तावत् शब्दार्थात्मकस्य किं वा शब्दप्राणस्य काव्यस्य वृत्तिव्यञ्जना
स्वीकर्तुं शक्येत। केवलमर्थगतत्वे तु स्मृत्याक्षानुमिति-
कटाक्षपातादिष्वेव केपुचिदन्तर्भावः कर्तुं शक्यते। "उल्लास्य
कालकरवालमहाम्बुवाहमि"त्यादौ अगृहीतद्वितीयार्थ-शक्तिकस्य
गृहीतविस्मृतद्वितीयार्थशक्तिकस्य वा पुनः द्वितीयार्थ- बोधानुदयेऽपि
नास्तिक्षतिः, यतोहि अभिधामूलशाब्दीव्यञ्जनायां प्रथममभिधया
संकेतिता नानार्थानामुपस्थितौ सत्यामेव व्यञ्जनोल्लासः अन्यार्था-
व्यञ्जनयैव सर्वस्य संग्रहः काऽवश्यकता अभिधामूलशाब्दी-
व्यञ्जनायाः। यत्तुराजेन्द्रयोरुपमानोपमेयभाव एवात्र व्यञ्जनया लभ्य
इत्युक्तमसक्तुं तत्र पुच्छ्यते उपमानोपमेयभावे का व्यञ्जना, शाब्दी
वा आर्थी। शाब्दी चेदुपमादेरलङ्कारस्य शब्दगतत्वात् शब्दालंकारा-
पत्तिः। उभयोरर्थयोः श्वेत आर्थीव्यञ्जना वक्तव्या न शाब्दी।
केवलं साधर्म्यमात्रस्य शब्दनिष्पाद्यत्वाद् नोपमाव्यवहारः। अत उक्तम्
'अर्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य चेति 'चकारादि- द्वितीयार्थ
स्यापि व्यङ्ग्यत्वमेव व्यञ्जनाया आगतस्य द्वितीयार्थस्य तेन
सहोपमानोपमेयभावस्यापि व्यञ्जनयैव ग्राह्यत्वं तस्या विरामाभावात्
धर्मिग्राहकमानसिद्धत्वात्। तथा चोपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्य इत्यपि
न घटते यतोहि उपमेयं राजरूपार्थस्तथा चोपमानं गरुडार्थो वाच्यो,
तथा च साधर्म्यमपि शिल्पशब्दात्सकत्वं वाच्यमतः न वक्तुं शक्यते
यदयं व्यङ्ग्यः, अपि तु वाच्यालंकार एव वक्तव्यः।

अतएव शब्दशक्ययुक्तस्य संलक्ष्यक्रमध्वनेरुदाहरणत्वेनैतत्

निर्दिष्टम्।

यत्तु 'न च शब्देन योऽर्थो व्यज्यते तस्य शब्दस्य
तदर्थगतशक्तिज्ञानं तदर्थव्यक्तोत्पल्लसे हेतुरिति वाच्यम्। नि शेषव्युत्त
इत्यादौ रमणव्यक्त्यनापत्तेः। नह्यमपदस्य कस्यचिदमणे शक्ति-
ग्रहोऽस्ति इत्यादि यदुक्तं तदविचारितरमणीयम्। शाब्दार्थ-

व्यञ्जनयोरैककोटौ गणनमनुचितम्। सत्यैकत्वे कथं शाब्दीव्यञ्जना आर्थीव्यञ्जना चेति नामद्वयं क्रियेत। कथञ्च 'स्याद्वाचको लाक्षणिकः शाब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा' इत्युच्येत। यथा लक्षणामूलायां लाक्षणिकशब्द एव प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनप्रतिपादने व्यञ्जको भवति तथैवाभिधामूलायामपि शाब्दीव्यञ्जनायां प्रयोजनप्रतिपादनावसरे वाचक एव व्यञ्जको भवति। अतएवोक्तं 'तदयुक्तो व्यञ्जकः शब्दः। यत्सोऽर्थानुरूपं ततः। अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः'। इति

यत्तु 'जैमिनीयमलं धत्ते रसनायामयं द्विजः' इत्यत्र जुगुप्सितोऽर्थः वह्निकरणकसेक इवाबोधोपहत एव स्यात्। बाधनिश्चयस्य तद्वत्ताज्ञानं प्रति प्रतिबन्धकताया सर्वजनसिद्धत्वात्, व्यक्तेस्तु बाधितार्थबोधकत्वं धर्मिग्राहकमानसिद्धमिति व्यक्तिवादिनामदोषः। मैवम् 'गामवतीर्णां सत्यं सस्वतीर्यं पतञ्जलिब्याजात्' 'सौधानां नगरस्यास्य मिलन्येकं मौलयः' इत्यादौ वाच्यार्थान्वयबोधोपपादनायानुसरणीयेन यत्नेन नानार्थस्थलेऽपि बाधितार्थबोधस्योपपत्तिः स्यात् इत्युक्तम् तत्र पृच्छ्यते कीदृशोऽनुसरणीयो यत्नः।

सौधमौलीनामकेण सह मिलनस्यासम्भवात् समुपस्थिते बाधे सन्निकर्षसम्बन्धेन तत्सन्निकृष्टमात्रबोधोपपादनेनान्वययोग्यता जाता। जाते चान्वये सौधानामुनतत्वातिशयः प्रयोजनम्। जैमिनीयमलित्यत्र जाते बाधे कीदृशी लक्षणा। लक्षणाभावे कुतोऽन्वयः। नहि व्यञ्जनयाऽन्वयः क्रियते। कथमुक्तं व्यक्तेस्तु बाधितार्थबोधकत्वम्। प्रयोजनप्रतीतिं कुतो बाधितार्थबोधकता। बाधितार्थं लक्षणाया एव प्रसारः धर्मिग्राहकमानसिद्धः। नहि जैमिनीयमलसम्बद्धस्य कस्यचिदन्वयपदार्थस्य धत्ते' इति क्रियया सहान्वयः।

बाधनिश्चयप्रतिबन्धत्वाऽवच्छेदककोटावनाहार्यत्वस्येव शाब्दान्वयत्वस्यापि निवेश्यत्वेऽपि न निस्तारः। नह्येष्टवृत्तमात्रप्रयोजकताज्ञानाधीनेच्छामूलाहार्ययोग्यता लभ्यते। अन्वयानन्तरं जाते बाधे कथमभिधयैव बाधितार्थप्रतीतिः। चेन्मलधारणस्याभिधयेव शाब्दबोधस्तर्हि कथं न दोषग्रस्तत्वम्।

अत उच्यते नात्राभिधा न च लक्षणा। अयं द्विजो जैमिनीय रसनायां अलं धत्ते इति अभिधाबोधानन्तरं पर्यवसिते च वाक्यार्थे पुनः कथमयं सम्यगादिपदं विहायालं पदमत्रोपात्तं येन 'जैमिनीयम्' इति पदेन सहसंख्यं जाते जुगुप्सितार्थः प्रतीयते। अतः वक्तव्यमिष्टयाद्

नायं जैमिनिशास्त्रज्ञः अपितु नाममात्रेण तच्छास्त्रज्ञ इति व्यज्यते। अतोऽत्र अर्थस्य शब्दगताभिधा न तु शब्दस्यार्थगतता। नहि अलंपदस्य नानार्थकत्वं न च मलपदस्य, अपि तु जुगुप्सितार्थकमलशब्दश्रवणमात्रेण बोद्धुं वा वक्तुं साहाय्येन व्यङ्ग्यार्थो गृह्यते। अर्थस्य शब्दगतत्वेनाभिधाय, अत्र अर्थः मूलं तत्र शब्दस्य सहकारितेति सर्वथा शाब्दव्यञ्जनातृथगीति ध्यातव्यम्।

इत्थमर्थनिरूपितशब्दानुयोगिकत्वेन स्थिताया अभिधायानानार्थकस्थले मूलत्वात् अभिधामूलशब्दव्यञ्जनाया विषयो द्वितीयोऽप्राकरणिकोऽर्थो व्यङ्ग्य एव भवन्त्येव नाभिधेयः। अन्यथा 'अलङ्कारोऽथवस्त्वेव शब्दाद् यत्रावभासते। प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा। इत्युक्त्या शब्दशक्त्युद्भववस्तुध्वनेर्निर्वकाशः प्रसज्येत। न निर्वकाश इति न वक्तुं युज्यते। क्वापि शब्दशक्त्युत्थवस्तुध्वनेर्निरुद्धतात्। ननु 'शनिशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुर्यासि नरेन्द्र यस्मै त्वम्' इत्यत्र नास्ति नानार्थकत्वं वस्तुध्वनिश्चात्र सुस्थिर इति चेन्न। अशनिपदं शनिभिन्नवज्राभिधायकत्वात् श्लिष्टम्। शनिभिन्नस्य यस्य कस्यचिदपि त्वकोपपत्राज्यहननक्रियायामुपयोगे वाक्यार्थबोधस्य सम्भवात्। ननु शनिप्रतियोगिकाभावस्य हननक्रियायामुपयोगो न घटते भावस्यैव तत्क्रियोपयोगश्चेत् सत्यम् अत एवोच्यते 'विरुद्धावपिद्वै त्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुरु' इति वस्तु ध्वन्यते। शनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति अशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति इति द्वावपि तं निहतः, इति वाच्यार्थ एव। अशनिपदस्य शनिभिन्नपदार्थकत्वे संकेतवत् इत्येव विरुद्धो द्वा इत्यस्य ग्रहः। इत्थमभिधामूलशब्दशक्त्यैव द्वयोरर्थयोर्वज्रशनिभिन्नयोरुपस्थितौ सत्यामेव शनिवज्राभ्यामविरुद्धाभ्यामेककर्मकाभिहनने संवृत्ते प्रथमवाक्यार्थबोधे शनितदभिनाशनिभ्यां विरुद्धाभ्यामप्येककर्मकाभिहननरूपत्वदनुवर्तनार्थबोधाय व्यञ्जनेन समर्था। अत उक्तं विरुद्धो द्वावपि..... इति। अत्र वस्तुमात्रं व्यज्यते। न तु रसभावादध्वनिरपि। चेदुपश्लोक्यनूपतेः प्रभावातिशयो व्यज्यतां नाम कथमत्र वस्तुमात्रत्वमिति तन्न प्रकृतग्रन्थविरोधात्। नह्यत्र कविनिष्ठनूपविषयकरतिः प्रधानतयाव्यञ्जयितुमिष्टा येन भावध्वनेः प्रसङ्गः स्यात् इति। अत्र केवलं वस्तुमात्रं ध्वन्यते। वस्तुव्यङ्ग्यमादाय भावोऽपि व्यज्यतां, नास्तिशक्तिः। उक्तन् ध्वन्यालोके अत्रान्तरे कुसुमसमयमुपसंहरन्जम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिकाध-

[illegible]

अनुवैत गुणीभूतव्यवस्थायाम् । गुणानि कालेभूतगुणानि प्रसिद्धी
कृते विप्रविद्योपनिमानां । इत्येतां विप्रशब्दस्य जलकालव्यवस्थायात्
प्रकृतं तद्वत् प्रथम विप्रशब्दजन्यस्यान्यथाहोपनिप्रतिभावत्वेन न
विद्योपनिमाणासमर्थत्वात् द्वितीयार्थस्य गलस्य व्युत्पत्त्यं सततं
सिद्धम् । तच्च व्युत्पत्त्यं मुक्ताङ्गुलीप्रमाणे समन्वये । यतो हि जलदे
भूतगुणोपायाय साधन्यस्यान्यथापदशया शब्दसाधन्यप्रमाणे ताम्बरी
तेन विप्रत साधन्यं धनति । अतः वाच्यरूपकालङ्कारनिष्पादनाय
विप्रशब्दाधिन्यासकालाधिन्यासा वाच्यायमानत्वम् । अत एवैक-
विप्रशब्दाधिन्यासमेवमादाय साधन्यं निष्पाद्यते । द्वितीयार्थस्य व्युत्पत्त्यं
न स्वोक्तिर्येतं चेत् कथमनं गुणीभूतव्यवस्थायाम् । ननु साधन्यं

[illegible]

नानार्थकत्वात् ॥ ५ ॥ विधेयार्थबोधाय येषामन्यार्थनियन्त्रणत्वेन विशेषार्थस्मृतिहेतुत्वं ते संयोगादस्य के किल्लक्षणाएवेति विचार्यमाणो काव्यप्रकाश इत्य निर्दिष्टम् ।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ।

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्याक्तः स्वरादयः।

राष्ट्रपति विद्यानाथ कर्नाटे विरोध समिति का

इत्युक्तदिशा 'सशङ्खचक्रो हरि' 'अशङ्खचक्रो हरि' -त्युच्यते।

‘रामलक्ष्मणावि’-ति दाशरथौ । ‘रामार्जुनगतिस्तयोरि’-ति

भार्वाकान्तोर्वयोः । 'स्थानं भज भवच्छ्रद्ध' इति हरे । सर्वं जानाति
देव' इति युष्मदर्थे । 'कुपितो मकरध्वज' इति कामे । देवस्य
पुरातरेति-ति शम्भौ । मधुना मत्तः कोकिल' इति वसन्ते । 'पातु
वो दयितामुखमि' इति सामुख्या । 'भात्यत्र परमेश्वर' इति राजभा-
नीरूपाद दशाद राजनि । 'चित्रभातुर्विभाती' इति दिने खवौ, राज्ञौ
वह्नौ । मित्रं भातु-ति सन्धि, मित्रा भातु-ति खवौ । इन्द्रशत्रु-ति त्यादौ
वेद एव । न काव्ये स्वरो विशप्रतीतिक्त् ।

आदिग्रहणात् ..

एहमेत्तत्थणिआ एहमेत्तेहिं अच्चिवत्तेहिं ।

एहमेवमाकथा एहमेवमेति विज्ञापति॥

(एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम् ।

एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः॥)

इत्यादावभिनयादयः ।

इहं सध्यानादिभरणीनराभ्यायकत्वं निष्कारिणं इत्यनेन कार्यस्य
शब्दस्य यत् त्वनिदिशन्तराग्रतिपादानं तत्र नाभिधा नियमनात् तस्याः
न स लक्षणा मुख्यार्थभाषादभावाद् अपि त्वत्त्वं व्यञ्जनमेव
व्यापारः ।

यथा-

भद्रात्मनो दुःखिरोद्धतनोविशाल

वंशोन्नतेः कृतशिलीमुखसग्रहस्य ।

यस्यानुपप्लुतगते पात्राणां स्य

दानाम्बुसेकसुभगः सत्तल करोऽभुत् ॥

साहचर्यं विरोधिता शब्दस्यान्यत्रासन्निधिरिति त्रयं विशेषतोऽ-
भिधानासिद्धत्वात्तन् विनाशणीयमस्ति। साहचर्यं द्वन्द्वादिनोक्तयो-
नानार्थकयोऽपदार्थयोः समानक्रियान्वयित्वम्। विरोधिता, विरोधिनोद्देश्यो-
समानक्रियान्वयित्वम्। विरोधिता, विरोधिनोद्देश्योऽपदार्थविधाननिर्दिष्टयो-
कारकेण साहचर्यं। तथा च शब्दस्यान्यत्रासन्निधिरिति

यत्तु शब्दान्तरस्मिन्नेषोर्नार्थकपर्यवसानसमाश्लिन्नं नानार्थकयोः समप्रभित्याह रूपाक्षरयोः नानार्थपदानां समप्रभित्याहारमात्रेण पर्यायसमर्गिणीयपदार्थप्रतिपादनेन, प्रकृताप्रकृतयोरुभयव पदार्थवाक्यार्थयोर्गभिमानमनमपभ्यदर्शित्वेन तत् सर्वदा प्राचीनविस्मयस्य केवलं शब्दान्तरस्मिन्नेतद्विरूपाक्षणा रूपाक्षणा तत् प्रकृताप्रकृतार्थयो-

ममेव्यं प्रतिभाति। सयोगादिषु नियामकेषु मध्ये परिगणितं शाब्दान्तरान्निर्दिष्टान्यवबोधनान्तरकस्यभवे प्रकृतार्थप्रतिभानिर्दिष्टान्तरं प्राप्नोन्नतं भवदुर्ध्वं सन्त्यते। किन्तु सयोगादिना तु केवलं प्रकृतार्थं एकस्मिन्नेव वाक्यार्थप्रतिभार्थनियामकत्वं शाब्दान्तरान्निर्दिष्टान्तरं एकवाक्यान्वययोग्यपदार्थोपस्थापनद्वारा नैकम् वाक्यार्थं तु अधिधा-
नियामकत्वं यत् स्वीक्रियते तत्तु वैषम्यम् सयोगादिद्वयः। वाक्यार्थान्तरवोधेन नियामकत्वोक्तं वदतोव्याधात्। ननु तेन ध्वस्तमप्येव इति पदो उभयोः प्रकृतार्थयोः कथमभिधा प्रसंगाति, चेत् शाब्दान्तरान्निर्धेनियामकत्वं न स्वीक्रियते इति न वक्तव्यम्। वस्तुतस्तत्र बोधोदात्तितु कस्यापि प्रवृत्तितान्त्रातिं प्राप्नोतिनिरवक्तव्यं, अतएवाभिधा प्रसंगम्, भवदुर्ध्वम्, नानि-
र्धेनियामकत्वं स्वीक्रियते उभयार्थवाक्यवृत्तिरिति दर्शयति इति विवक्ष्यम्। अतः प्राप्नोन्नतं शाब्दान्तरान्निर्धेवोदाहरणं लक्षणं वा युक्तम् इतिभाति।
येन 'व्यात्यो दानेन राजते' इत्यत्र कथमभिधानियमनयिति दृष्टमनुदराजपदार्थयोरेवान्वययोग्यसयोगान्तरि न तु दातृत्वच-
मस्यसंप्रतिष्ठिति चेत् पदार्थोपस्थितिवाक्यार्थयोः समानकारकाकारचैव योग्यतया ग्राहणात् वाक्याधीनत्वयोग्यार्थस्योपस्थितिरेव भवति अधिधेयिते का हाति ? चेत् व्यात्यपदेन संप्रतिष्ठितिः स्वीक्रियते तदानीं दानपक्षस्य दोषवर्णनेन भातोनिष्पादनं विधीयताम्, तथा दानपक्षस्य संप्रतिष्ठिति इति वाक्यार्थोपि जायताम्। किन्तु पक्षतापि-
धास्वाकारे नियामकं न स्वीक्रियताम्, नियामकत्वस्वीकारे च

उभयत्राभिभा न स्वीक्रियताम्, का हानि । उपपन्न वाक्यार्थबोधम्
भविष्यत्येव । 'कथञ्चनम्' संग्रहः । सुप्रसन्नमन्दजलपारिवर्तिनिधा-
नियमनमिति सर्वानुभवमिदम् । 'कथं' तत्रभवद्विदुश्चक्रे ।

यन्तु विरोधितोदाहरणे उभयोर्न्यायसदोपरिहासयोन्वाते तथा च रामाजुर्न-
व्यवस्थितार्थत्वमन्योन्याश्रयसदोपरिहासयोन्वाते तथा च रामाजुर्न-
गतिरन्यथैः । इत्यस्य स्थाने छायापतये गम्यराणाविति उदाहरिते
तदपि न । प्रक्रमस्य विरोधिनोन्मयोर्विरोधश्चातु नानार्थकरीद्वयो-
सहैकस्मिन्नेतिप्रभाया नियमनात् धागवकार्त्तवीर्ययोर्ध्वयोरवगति-
र्भवति कुत्रान्योन्याश्रयः । यथाऽस्मिन् पद्ये मदीयं -

आजन्मनो गृहविरुद्धवैरयोः

कौन्तेयदुर्घोषनयोरपीशयोः ।

रामाजुर्नया गतिरिदृशोर्ध्व

निरूप्यते लोकपुराणवादिभिः ॥

अत्र भीमदुर्घोषनया प्रकान्तयोर्विरोधवशात् रामाजुर्नपठयोर्भीम-
कार्त्तवीर्ययोर्भाषा युगापत्तिरस्यते ।

श्रीमदण्डव्यतीक्ष्णता वृद्धैराचार्यैर्मूढोक्तान् विशेषान् दर्शयितुं
रुद्वितीयो योगरुद्धश्च त्रिधा अभिधानरूपितः । तासु रुद्धि-
मणि-मुप-मौक्तिकम्, कृष्ण अव्यक्तयोगो निर्गो योगभाषस्य
तदुभयोः प्राप्तीनोक्ता उदाहृता । चतुर्थी रुद्धिस्तु त्वत्कारणं सकृत्
प्रपञ्च मुक्तानां जनानामपेक्षया नित्य भजतां मणिनपुष्पौक्तिकानाम-
तिमुक्तलक्ष्मीर्बुक्तेवैति वाक्यार्थः । अतिमुक्तलक्ष्मीर्बुक्तेनोमुक्तलक्ष्मीर्बु-
मुक्तगतिरिति नोन्मयत् 'इत्युभयो रुद्वितीयोर्विरोधमोदाध्वव्यायस्य
विबोधितत्वेऽपि वास्तविकत्वेन अतिमुक्तशब्दः रुद्धिर्भवेति दर्शितम् ।

रुद्ध्यादिषु क्वचित् रुद्धयेऽपि योगार्थं क्वचित् योगपदेऽपि
रुद्धयर्थः क्वचित् योगरुद्धयेऽपि केवल योगार्थः क्वचित् केवल रुद्धयर्थः
क्वचित् च योगरुद्धपदसत्त्वेऽपि पुन रुद्धपदोपादान इति वैलक्षण्यमभि-
धासु दृश्यते । किन्त्व रुद्ध्यादीनां केवलत्वमेव यथालक्षणं मनाभ्याम् ।

युन कथं रुद्धये योगार्थस्य सत्त्वेऽपि केवल रुद्धिः, योगपदे
रुद्धयर्थस्य सत्त्वेऽपि केवल योगः, योगरुद्धये केवल योगार्थस्य
केवल रुद्धयर्थस्य सत्त्वेऽपि योगरुद्धपदमेव व्यवहर्तुं शक्यते इति न
वक्तव्यम् । यतोहि यथाप्रकृतार्थं तथा केवलरूपस्य विवक्षितत्वेऽ-
प्रकृततयाऽप्यस्य विवक्षितत्वं विवक्षितत्वे वा नास्ति वक्ष्यमाणतीत्या-
शतिः, रुद्ध्यादिषु प्रत्येकं प्रतिलक्षणव्यापत्तत्वात् ।

रुद्धपदे योगार्थस्याभासेऽपि केवलरुद्धियथा-
पदजलजसमीपं स्थातुकामः तपस्यन्
नियमधृततृणान्तर्मण्डपः श्वापदोऽयम् ।
तव वहनमवाप्यागमिजन्मन्यनन्त
बलविवभयवयस्ते भान् मणामण्डपस्य ॥

हे अम्ब ! श्वापदः श्वा सिंहसदृशस्तव चरणकमलमवाप्तुं
सुदृढ तृणनिर्मितमण्डपाश्रितः तपस्यन् आगमिनि जन्मनि तव वाहनं
भूत्वा अपरिमयबलविभवसम्पन्नः शोभमानो मणिद्वीपमण्डपस्थोऽस्मिन् ।
नियमधृततृणान्तर्मण्डपः इत्यत्र यथानियमं गृहीततृणमय
पात्रान्तर्मण्डपायानि मण्डपिक्कति नण्डपायी, योगार्थस्तपस्या-
नुरूपत्वेन विवक्षितोऽपि च योगरुद्धः अन्वयेनैवैवमप्युक्तिकान्तात् ।
उभयोः रुद्धि-योगार्थयोर्भिन्नत्वेनाभेदाध्याप्यतात्पर्यं स्वीकृतुं शक्यते ।
अतोऽत्र तृणनिर्मितमण्डपार्थं रुद्धिः केवलैव । जयदेवेन योगार्थस्य
रुद्धित्त्वं निर्दिष्टम् । यथा -

अव्यक्तयोगनियोगयोगभासे स्विधादमः ।

तै च वृक्षादि भूवादि मण्डपाद्या यथाक्रमम् ॥

व्याख्या मत्कृतटीकायां द्रव्यम् ।

योगपदे रुद्धयर्थस्य सत्त्वेऽपि केवल योगार्थान्वयाभासो यथा

ममैव -

गजमुखमवलम्बे चन्द्रमौलं महेशं

अचरचरजगत्सुशोभिपार्षाद्भुदेवम् ।

क इह गतमतिर्वा प्राप्यचिन्तामणिं यो,

भवसुखमभिलष्येत् गुञ्जयोपावतंसम् ।

अत्र चन्द्रमौलमहेशपदयोः शिवापरपराययोर्भूदा समन्यायार्थ-
प्रतिभासोऽपि गजमुखविशेषणत्वेन तस्य योग एव । शिरोमै चन्द्र-
वक्षानेन भगवतो गजमुखस्य सकलसुखशान्तिनुधाप्रकाशादिदानत्वं
भक्तये प्रत्यर्थार्थं योगार्थत्वेन विवक्षितस्य चन्द्रमौल्यादिपदस्य रुद्ध्या
भगवतः शिवस्य सम्बन्धिकावस्थाप्योऽपि विवक्षितः यन् अमेदा-
ध्ववसायने स्थितिः । भगवन्निष्ठवराणां योः पितापुत्रयोर्भगवतीति शब्द-
फलम् । तथापि गणपतिपदे केवल योग एव । सत्र योगरुद्धि-
भिन्नत्वेनातन्वयरूपार्थस्योन्मत्तत्वात् ।

पौनरुक्त्यपरिहासययोगरुद्धपदे केवल योगार्थस्यान्यवाभासो यथा-
यदि भवति सहायस्ते प्रसन्नो वसति .

मिलदलितस्वकांतालंकेवगन्पुगुराः।

तव कुम्भशराग्रे काम ! नशः पिनाकी,

ज्वलदलितकदशरीरे यस्मिन्नत्रः कयालः॥

अत्र पिनाकी उग्रः त्रिनेत्र इति पदत्रयं शिवस्य पर्यायः, तत्र पुनरुक्तिदोषोत्पल्लासवाग्गावः, पिनाकी उग्रपदयोः केवलं योगार्थं नात्र पदत्वं तदानीं मेवाख्ययोगयत्नम्। अत्यन्तमेवोपरः पिनाकहस्तोऽपि शिवस्तव पुरः योद्धुमसमर्थ इति वाक्यार्थोऽप्युष्टिः।

क्वचिदकर्मस्य प्रयुक्तस्य योगरूढपदस्य केवलमवयवार्थं विश्रान्तिः यथा -

अमृतमुग्धमिषमयश्वदिनिस्तब्धभाष्य-

स्वयमनितरगौभाग्योऽब्ज एको ललाटे।

विगलितगुणकान्ति क्षीणसदृभासयाऽपि

गिरिश ! तवपृथो राजतीतिप्रणम्यः॥

अत्र सिन्धुजलजातेषु अमृतमुग्धमिषमयादिषु एक एवाब्जश्चन्द्रः (अब्जो जैवास्तुकः सोमो ग्लोर्मृगाङ्गः कलानिधिः) क्षीणकलोऽपि त्वदपृथो लोकेप्रणम्यः सन् राजतीति वाक्यार्थं सिन्धव्यपदं केवलं जलजातरूपार्थं प्रतिपादयति।

क्वचिद् योगरूढस्य केवलं समुदायार्थं विश्रान्तिः - यथा-

नाभ्युदग्लाम्भोजनिबद्धपद्मासनो विधिमीलितनेत्रपङ्क्तिः।

जिज्ञासुमालोक्य मधुं पिबो यो मुक्यै समस्तौत शरणं तदेकम्।

अत्र 'अम्भोज' पदं योगरूढं, रूढ्या केवलं पद्मरूपार्थं प्रतिपादयति। 'अम्भोजाजयते' इति योगार्थस्य, नाभेर्जायमानस्य पद्मस्य कृते, नान्वेति इति केवलं रूढार्थोऽत्र विवक्षितः, इत्यादिकमत्यन्तमेव संक्षेपेण चन्दालोके प्रकाशितं दृश्यते।

केवलं यौगिकपदोऽपि रूढ्यर्थमन्वेऽपि, केवलं योगार्थग्रहणाय, यौगिकस्य सम्भिन्नाख्यो भेदो दर्शितः। यथा-

शुद्धतन्मूलसंभिन्नाप्रभेदैर्यौगिकस्त्रिधा।

ते च भ्रान्ति-समस्तकान्ति कौतयादिस्वरूपिणः॥

अत्र 'कौतय' पदं यौगिकं, केवलमनुज्ञार्थं रूढिमात्रम्। एवमेव योगरूढपदस्य केवलावयवार्थग्रहणाय नीरधि भूरादि पदं दर्शितम् क्वचिन्म केवलसमुदायार्थग्रहणाय, श्रीस्तोत्रः, आकाशपञ्चुजादिरिति दर्शितम्। यथा -

तन्मिश्रीऽन्योन्यसामान्यविशेष परिवर्तनात्

नीरधि पङ्कजः शौधं सागरो भूरुहः शशी॥

श्रीस्तोत्रधियाऽत्रपङ्कजं तेषु सिद्ध्यतीति।

एतत्सर्वं श्रीमदप्युक्त्यदोक्षितैः स्ववृत्तिवार्तिके प्रदर्शितम् किञ्चोत्तेप व्याख्यानं च कृतम्।

अत्रेदं विन्यासीयम् - रूढियोगयोगरूढित्वविधाभिधोदाहरणत्वेन

-पाचकादि-पङ्कजादि-निर्दिष्टानि सन्ति। एतेषु क्रमेण केवलं समुदायशक्तिः, केवलावयवार्थशक्तिः, तथा च उभयोः संकरशक्त्युत्पत्तिः। एतेष्वेव क्वचिन्तु सगृह्यं पिबतीति सपङ्कजोऽवयव-वार्थोऽपि दृश्यते तथापि न योगस्य प्रवृत्तिः। क्वचिद् योगरूढे समुदायार्थस्य प्रतिभासोऽपि न रूढिः, गजमुखमवलम्बे चन्द्रमौलिः इत्यत्र शिववाचिनश्चन्द्रमौलिप्रदस्य न रूढ्यर्थग्रहः। अन्यथा यत्केवलं रूढियोगाभ्यामुदाहृतं, तत्सर्वं योगरूढेर्लक्षणोऽजाशयेन। कश्च नोभयत्र योगरूढिर्वस्वीकृतेति जिज्ञासयामास रूढिधातुप्रत्ययशक्ति-बोध्ययोगार्थयोगरूढ्येनोल्लेखमिति कश्चित् भिन्नो धातु- प्रत्ययशक्तिबोध्यः पदार्थो भिन्नः, रूढिशक्तिबोध्यपदार्थोऽपि भिन्नो धातु- प्रत्ययशक्तिबोध्यः पदार्थो भिन्नः, अन्येनोल्लेखसाभावस्तत्र न योगरूढिः अपितु प्रकृतार्थान्वयार्थो योऽर्थः स केवलं योगार्थः केवलरूढ्यर्थः वा स्वीकृत्यः। यः खलु तदस्मिन्नोऽर्थः स एकापदोपात्तत्वेन तदर्थेन महाभेदमवश्यमभ्यवस्यति। अभेदाध्यव- सायार्थमपि विहाय व्यञ्जना समुपास्यत इति भिन्न-भिन्न वृत्तिगम्यत्वे नास्ति कश्चन दोषः।

यच्च योगरूढस्थले पौनरुक्त्येन, पिनाकी त्रिनेत्रदिपदानां सहैवोपादानं तत्र प्रकृतार्थानुसृत्य पदार्थमात्रबोधायावयवार्थमात्रबोध्यो योगरूढपदस्य लक्षणा कार्या। यतो हि योगरूढपदस्य रूढ्यर्थे योगार्थस्यान्वयात् प्राधान्येन रूढ्यर्थस्यैव सत्त्वात् 'योगारूढिर्बलीयसी' इति न्यासानुसृत्यत्वादिभिधया न क्वापि केवलस्य योगार्थस्य प्रतीतिर्योगरूढपदेन कर्तुं शक्यते, इत्थं यत्र यत्र रूढ्यर्थमादाय पौनरुक्त्यापत्तिस्तत्र सर्वत्र लक्षणाया योगार्थमात्रप्रतिपादने न कान्तिः श्रुतिः।

यत्र तु एकैतेव पदेन योगरूढेन अन्वितरूढ्यर्थप्रधानेन पदार्थानेन सहान्वये जायमानोऽपि योगार्थः पृथक्तया प्राधान्येन विवक्षितस्तत्र केवलं योगार्थस्य कृते व्यञ्जना स्वीकार्या। न त्वभिधयैव अन्वितयोगरूढ्यर्थबोधानन्तरं पुनः योगार्थमात्रप्रतिपादनायाभिधयाएव प्रसारः स्वीकर्तुं शक्यते। शब्दबुद्धिकर्मणा विम्व्यव्यापाराभावः इति

न्यायस्य जागरूकत्वात्। यथा "पुष्पधन्वा विजयते जगन्
त्वत्कृष्णवशात्" इत्यत्र पुष्पधनुर्भरत्त्वविशिष्टमदन्तोपस्थितधनुर्
मदनशत्रुत्वसाधनत्वादिविरोधनाय केवलं 'पुष्पं धनुर्स्य स' इति
योगार्थानुसंगेषु तदर्थं न अभिधा प्रसरीते। तत्र व्यञ्जनाया एव
सामर्थ्यात्।

यत्र तु योगरूढस्यैकस्यैव पदस्य प्रयोगे केवलं क्वचिद्
योगार्थत्वेनावयवः क्वचिद् रूढयत्वेन पदार्थत्वयः अन्तरेण सह
जायते तत्र का गतिरिति विनन्तोपाः।

योगार्थनिर्देशरूढयर्थमात्रान्वये कदाचित् योगाद् स्मिन्नेलीयस्मिन्
न्यायस्य यथा योगार्थरूढयर्थयोः पृथक्पृथक्गन्धवयोर्ययोर्मध्ये
रूढयर्थस्य बलीयस्त्वाद रूढयर्थेन वाक्यार्थान्वयः सम्पाद्यते। चेद्
विवक्षितो योगार्थस्तदानीं वृत्त्यन्तरं कल्पयेत् तथैवापि रूढयर्थेन
वाक्यार्थान्वयो जायते योगार्थस्याविवक्षितत्वात् तत्र न वृत्त्यन्तरं
कल्पयेत्। भवतु अभिधयैव योगरूढपदस्य केवलं रूढयर्थबोध
पदार्थत्वयश्च। किन्तु योगरूढपदस्य यत्र केवलयोगार्थमात्रसम्बन्धे
विवक्षिततत्र का गतिः। नार पुष्पधन्वाविजयते इत्यादिषु
पदार्थत्वयान्तरे शस्त्रेण सारवादिबोधाय योगार्थस्य व्यञ्जनालभ्यत्व
स्वीक्रियते तथा अत्र स्वीकर्तुं शक्यते। अत्र परस्परं पदार्थान्वयायैव
योगार्थस्यापेक्षा भवति। अतः वाक्यार्थे योगार्थमात्रस्यान्वयायापि
लक्षणास्वीकार्या।

यदापि नैयायिका योगरूढपदस्य वाक्यार्थान्वयाय यत्र केवलं
रूढयर्थे विवक्षितस्तत्रापि लक्षणैव स्वीक्रियते योगार्थस्य कृते तु
स्वीक्रियत एव। तेषामयमभिप्रायः-

योगरूढस्य पङ्कजादिशब्दस्य पङ्कजनिकर्तृत्वविशिष्ट पदमन्वा-
श्रयबोधकस्य विशिष्टाद्यैकस्यैव पदार्थान्तेण सहान्वयः अभिधयेति
नियमः, स्वतन्त्रज्ञानव्यार्थं पदमन्वाश्रयमात्रस्य पङ्कजनिकर्तृत्वा-
श्रयमानस्य नोपस्थितये लक्षणैव स्वीकार्या।

अत एतेषामनुसारेण पूर्वोक्तावयवार्थमात्रान्वयस्थले
अनृतसुरभिमाण्यश्वदिदिसम्बन्धभूतयन्त्रितपदं
तथा च केवलमनुदासार्थमात्रान्वयस्थले-

'नाम्युद्गतामोर्जनिबद्ध पदो क्रमेण जलजातमात्रार्थे
पदममात्रार्थे च लक्षणवैति।

लक्षणावृत्तिः

साहित्यशास्त्रे तिस्रो वृत्तयः प्रसिद्धाः अभिधा लक्षणा
व्यञ्जनंति। यन्मूर्ध्ना तात्पर्यादिभिः 'तान्यस्यैवैषि केमुचिन्' 'तदादौ
ये विशेषाः साधनत्वादधरते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यां व्यापकान्तरेण
गम्याः' इत्याद्युक्तिभिर्मम्यते निर्दिष्टा। इत्थं चतसृषु वृत्तिषु सतीषु
शब्दार्थयोः साक्षात् संकेतात्मसम्बन्धः अभिधा, सात्तराशसम्बन्धो
लक्षणा, आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिराशु पदार्थानां परस्परं यन्त्र-
न्वयतात्पर्यार्थोऽप्यर्थः वाक्यार्थः। शाब्दबोधाविषयीभूतस्य प्रत्यक्षितं
वाक्यार्थं ज्ञायमानस्यार्थस्य प्रतिपादनाय वा वृत्तिर्गृह्यते सा व्यञ्जना।
वाच्यार्थार्थान्वयस्यार्थस्य प्रतिपादनाय वा वृत्तिर्गृह्यते सा व्यञ्जना।

तत्र लक्षणाकक्षणे वाग्देवतावदाम्बवेन विद्वन्मु-
मम्पतेनेत्यं न्यदर्शि।

मुख्यार्थबोधे, तदुद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।

अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणरोपिता क्रिया॥ इति

शक्यसम्बन्धो लक्षणेति पण्डितराजादिना।

लक्षणेण शुद्धागीणीया द्विधा। शुद्धा नोपादनलक्षणभेदाभ्यां
द्विधा भूत्वा साराणामाध्यवसानाभ्यां सप्त चतुर्धा, गौणी च साराणामा-
ध्यवसानाभ्यां द्विधेति षड्विधा। इयं च त्रयोजनवती। स्मिन्नेत्यैकवि-
धेति मम्यतः। शुद्धागीणीया स्मिन्नेति द्विधेति दीक्षितपण्डितराजादयः।
साहित्यदर्पणकारास्तु लक्षणायाः बहुविधत्वं कल्पितं किन्तु तत्र
शब्दकर्म किमपि वस्तु न प्रतीयते। उदाहरणानि तु- शुद्धालक्षण-
लक्षणायाः 'गङ्गायां घोषः', शुद्धोपादनलक्षणायाः- 'कुन्ताः
प्रविशन्ति', शुद्धासाराणामा 'आयुर्वृत्तम्' शुद्धासाध्यवसानाया
'आयुर्वेदम्' गौणीसाराणामा 'गीर्वाहिक', गौणीसाध्यवसानाया
'गीर्वाहम्', इति स्मिन्नेति शुद्धाया 'नीलोत्पलः' स्मिन्नेति गौण्यासु
'धर्मस्यायमनुकूलः' इत्यादिप्रयोगाः लभ्यन्ते। तथा च
लक्षणा मूलगुह्यव्यप्राधान्ये स्वयं विवक्षितवाच्यत्वन्त-

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते मुञ्जना प्रथिता भवता परम्।

विदधदोदृशमेव सदा सखे सुखितामास्व ततः शरदां शतम्॥'

इत्युदाहृतम्।

एतेषां समेषामुदाहरणानां संग्रहाय लक्षणाया लक्षणमभीष्टम्।

तत्र विचारणायाम्-

'शक्यसम्बन्धो लक्षणा' इति लघुभूतं लक्षणं विहाय मम्यते

कथं गुरुभूतं 'मुख्यार्थबाध' इति लक्षणां निर्दिष्टम् । मर्मगतस्य
वैयाकरणशिरोमणेः प्रसिद्धिरिति 'यदर्धमात्रालोपावमानिणोत्सवं मन्यन्ते
वैयाकरणाः' इति सूक्तेरवगतिरार्थस्य । मुख्यार्थबोधो लक्षणायाः
शरीरज्येष्ठ, लक्षणायाः कारणकोटी कथं तस्य न्यासः । न खलु
कथं कारणकोटावधि स्थितं स्वीक्रियते प्रागभावाप्रतियोगिबन्ध-
रूपकार्यत्वस्य हानेः । कार्यतावच्छेदक-कारणतावच्छेदकयोरैक्याच्च ।
अतः लक्षणाया हेतुत्रयं मुख्यार्थबाधः मुख्यार्थयोगः
रूढिप्रयोजयोरैक्यतत्त्वमिति । स्वभावेन 'अन्योऽर्थोलक्ष्यते यत् सा
लक्षणापीतिप्रक्रिया' इति । अत्र 'यत्' पदस्य 'यतः सम्बन्धात्'
अर्थो लक्ष्यते स सम्बन्धः लक्षणाणि यैवार्थलोपायते तदसाधु । यतोहि
मुख्यार्थसम्बन्धस्य हेतुकोटी सत्वेऽपि स्वभावेऽपि निवेशानुचितः ।
अतः 'यत्' पदं प्रतिपत्तिपरमपि अत्र न ग्राह्यम्, यच्च प्राचीनैर्लक्षिताम्
'शक्यसम्बन्धेनाशक्यप्रतिपत्तिलक्षणाति स्वीक्रियते तत्रापि प्रतिपत्ते-
प्रतिपत्तिहेत्वर्थो ग्राह्यः यतो हि न वृत्तिः प्रतिपत्तिरूपा (ज्ञानरूपा)
अपि तु प्रतिपत्तेहेतुरूपेति ।

अतः 'यत्' इति यथा व्याख्येयम् । उक्तञ्च प्रहरी- 'यत्तु
यदित्यस्य यत् इत्यर्थकतया सम्बन्धपरतदैव सूत्रबन्धनं तदप्युक्तम् ।
'नाभिधा समसाभावाद् हेत्वभावेन लक्षणा' इत्यत्र मुख्यार्थबाधा-
दित्रय हेतुमिति व्याख्यानविरोधात् । इति । (पृ 36)

इत्थं लक्षणाया हेतौ त्रितयस्य निवेशोऽपि केवलं मुख्यार्थ-
बाध एव लक्षणाया हेतुत्वस्वीकरोति नास्ति किञ्चिदधीनम्, तर्हि
कथं कारिकावत्या 'लक्षणाशक्यसम्बन्धः तात्पर्यानुपपत्तिः' इति
लक्षणमासुत्र्य गङ्गायां घोष इत्यादी गङ्गापदस्य प्रवाहरूपे शक्यार्थो
अन्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिस्मर्यायते तत्र लक्षणाया
तौम्यस्य बाधः । यन्तु यदन्वयानुपपत्तिलक्षणाबीजं स्यादात् 'यद्वा
प्रवेशय' कारकेभ्यो दोष शक्यताम् इत्यत्र लक्षणा न स्यात् । सर्वतोभावेन
दक्षिणायाम्नात्यर्थविषयत्वे तात्पर्यानुपपत्तिलक्षणाबीजं, नावयानुपपत्ति-
रिति उक्तम् । नागोजिभट्टेऽपि परमलघुमञ्जुगणां शक्यसम्बन्धो लक्षणा,
अन्वयाद्यनुपपत्तिप्रतिस्मराने च लक्षणाबाधः, वस्तुतस्तु तात्पर्या-
नुपपत्तिप्रतिस्मरामेव लक्षणाबीजम् इति निर्दिष्टम् ।

एतत्सर्वं आचार्यममृतस्य 'मुख्यार्थबाधेति' लक्षणा केवलमन्वया-
नुपपत्तिमेव स्वीकुर्वतामाचार्याणां वचनम्, वस्तुतस्तुल्लक्षणान्त-
र्ध्यालक्षनान्तराग्रहणमूलम् । तात्पर्यानुपपत्तिपदेन कीदृशोऽपि भवदभीष्टः ।

तात्पर्यस्य तात्पर्यार्थरूपशार्धार्थः, अथवा प्रयोजनम् । आद्यस्येदन्वया-
नुपपत्तिरूपलक्षणाालक्षार्थो एव तात्पर्यार्थः । प्रयो जनकश्चेत् तर्हि
न प्रयोजनानुपपत्तिलक्षणाकोटीमिति वक्तुं शक्यते, यतो हि
प्रयोजनमुद्दिश्यैव लक्षणापाठस्यते । यत् 'कारकेभ्यो दक्षि शक्यताम्'
इत्यादिमन्त्रानुपपन्नान्तरं वक्तुमिदं न तात्पर्यमपि तु सर्वेभ्यो
लक्ष्यपक्षात्कार्यो दक्षिणशक्यमिति तात्पर्यानुपपत्तिरिति । तत्र पुच्छमपि,
यद् वक्तुमिदमेव तात्पर्यमिति कोनोपायेन तत्रशक्यदोषादीनिश्चयते । न
वक्तुर्बोद्धव्यादिमाहाय्येन किमपि वस्तुवैय इत्यतया निश्चेतुं शक्यते ।
वक्तुर्बोद्धव्यादिः केवलपदार्थबोधेन साहाय्यमाचरन्ति न तु नियन्ताम् ।
नियन्त्रकञ्च न मन्त्रोपादिना नानाप्रकारेणैव स्वीकृतम् । नात्र नानार्थत्वं
येन प्रकृष्टादिना कश्चादापरो नियन्तुं शक्यते । प्रत्येव 'गङ्गायां
घोषः' इत्यङ्गापि शैल्यापावगन्वादितात्पर्योन्मृद्वर्थमेव गङ्गापदस्य
लक्षणाधिकत्वं स्वीकृतं न घोषपदस्येति तात्पर्यानुपपत्तिरिति, वयो
सर्वथा निर्दुष्टम् । अन्वय- बोधमात्रक्षणायां वृत्ती वृत्त्यन्तरेण
तात्पर्यरूपप्रयोजनसिद्धिरिति घण्टापथः । वस्तुतो यदा घोषपदस्य
मीने लक्षणा क्रियते तदानीं रूढिप्रयोजनयोरन्यतरहोतरभावाद् लक्षणैव
न प्रसरति, अतः गङ्गापदस्य तीरे लक्षणा भवति, तथा च
तीरप्रतिबोधिकताप्रयोजनकः शब्द- बोधश्च भवति । गङ्गान्वेन
तीरेऽपि स्थितावपि एतादर्थसम्बन्धे नास्ति गङ्गात्वस्योपयोगिबन्धमिति
नात्रोपादानलक्षणाया अवसरः । लक्षणाया समानप्रकारकत्वा-
नुभवविलक्षणलक्षणिकशब्दबोधोपपत्तेः ।

यत् तात्पर्यं भवद्विधस्यते तदेव प्रयोजनपदेन, 'प्रयोजनान्'
इति मर्मटोपेक्षम्, अन्यद् वा ? नेदंकेमेव, तदानीं प्रयोजनानुपपत्ति-
नं लक्षणाबीजं वक्तुं शक्यते प्रयोजनमुद्दिश्यैव लक्षणापाठस्यते ।
प्रयोजनानतिरिक्तं चेत् तर्हि किं तात्पर्यार्थलक्षणपदार्थमन्वयरूपं, वा
तद्विधनम् ।

पदार्थसमन्वयानुपपत्तिरिति नास्ति दोषः, शब्दबोधे, मुख्यार्थ-
बाधस्यापि तदुपादेव । किन्तु न पदार्थसमन्वयकञ्च तात्पर्यं भवदनुकूलं
यतो हि कारकेभ्यो दक्षिणशक्यतामित्यत्र पदार्थसमन्वयरूप-
तात्पर्यस्यानुपपत्तेरभावात्, कश्चात्र तात्पर्यानुपपत्तिलक्षणाया हेतुमिति
भवद्विधवक्तुं शक्यते । न पदार्थसमन्वयरूपमपि तु वक्तुर्बोद्धव्यादिमाहाय्येन
चेत् शब्दबोधे वक्तुर्बोद्धव्यादिमाहाय्येन, सर्वतोभावेन दक्षिणशक्यं
क उपायः । चेत् वक्तुर्बोद्धव्यादिमाहाय्येन, सर्वतोभावेन दक्षिणशक्यं

वक्तुमभिप्रेतमिति काकप्रतियोगिकदधिरक्षणानुयोगिकशाब्दबोधानन्तरं बोद्धव्यमिति तर्हि कथं लक्षणाकोटी तस्य सन्निविष्टः। ननु पूर्वत एव प्रकरणदिना सर्वदध्युपपातकभ्यः दधिरक्षणं प्रवृत्तं तत्त्वज्ञानं काकभ्यः इति प्रयुक्तम्। अतः बाध इति अस्तु, किन्तु बाधोऽयं शब्दश्रुतमात्रेण बालान्वयबाधाद् "गङ्गायां घोषः" इत्यादिस्वलोपादु भिन्न एव। एको बाधस्तु श्रुतमात्रेणान्न तत्त्वार्थपर्यलोचनपर्यंतं स्थितिः। एको बाधस्तु श्रुतमात्रेणान्न तत्त्वार्थपर्यलोचनपर्यंतं स्थितिः। एको बाधस्तु श्रुतमात्रेणान्न तत्त्वार्थपर्यलोचनपर्यंतं स्थितिः।

अतः मुखार्थबाधे, मुखार्थयोगे, रुद्धिप्रयोजनयोन्यतरमिदं हेतौ सत्त्वे लक्षणेति वचसा मुखार्थबाधप्रयोजनयोः, गङ्गायां घोष इत्यत्र, मुखार्थयोगप्रयोजनयोः काकभ्यो दधिरक्ष्यतामित्यत्र, हेतुत्वेन स्वीकारे उभयोरनेनैकैकं लक्षणं समन्वयः, अतः लक्षणमात्रान्य-लक्षणमित्युत इति चेत्? तदपि न, हेतुविनायस्म्युक्तिरनुपपन्ना भव्यात्। इयमेव हेतुत्वात्। मुखार्थबाधमुखार्थयोगयोरन्योन्य-विशेषणतया शाब्दबोधे कृते, यदा मुखार्थबाधो जातः, तदनन्तरं मुखार्थयोगस्तथासति प्रयोजनसत्त्वे लक्षणेति, तदा गङ्गायां घोष इत्युदाहरणमङ्गीकृतं। यतः श्रुतमात्रेणान्यबाधे जाते पुनः प्रयोजनमशित्य मुखार्थयोगे सति मुखार्थयुक्तोर्धो यया लक्ष्यं स्यात् लक्षणेति, अर्थ आयातः। अत्र मुखार्थयोग इत्यस्यार्थः मुखार्थतावच्छेदकयोगः। यतो हि मुखमया वृत्त्या तत्प्रकारकतद्विशेषणकप्रदायीप्रस्थितिर्भवति अतः मुखार्थकोटी तदवच्छेदकस्य सत्ताऽस्त्येव। "मुखार्थ-सम्बद्धसत्त्वेन लक्ष्यमाणो लक्ष्यः" इति हेमचन्द्राचार्येणोद्दिष्टम्। पण्डितराजेनाऽपि मुखार्थतावच्छेदकतया लक्ष्यभावनस्य स्वीकारात् इत्युक्तम्।

तथा च - काकभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्र मुखार्थयोगे जाते सति, पश्चात् वक्तादिवैशिष्ट्यात् मुखार्थबाधः, मुखार्थतावच्छेदकत्वेन मुखार्थबाध इत्यर्थः। सर्वभ्यो दध्युपपातकभ्यो दधिरक्षणाभ्येष्टत्वात्। काकप्रतियोगिकदधिरक्षणानुयोगिकशाब्दबोधानन्तरं काकत्वेन काकप्रदायीप्रस्थितौ, सत्या जाताया बाधया दध्युपपातकत्वेन काकस्य प्रतियोगिकतया अन्यः। रक्षणातिशयश्च व्यर्थः।

इत्थं कृते विचारे एकमेव लक्षणमुपपन्नमिति इति लोचनीयं वाच्येतावता। तथा च लक्षणाया द्वौ भेदौ स्वयमेवार्थत आयातौ। एका शाब्दी लक्षणा एका वार्थी लक्षणा। यत्र श्रुतमात्रेणान्य-बाधस्तत्रशाब्दी लक्षणा, यत्र तु तात्पर्यविषयलोचनया बाधः तत्रार्थ

लक्षणेति। एवैव शाब्दार्थगतत्वे, दोषगुणालङ्कारादीनामपि व्यवस्थितिः। इत्थञ्च शाब्दीलक्षणाया क्षेत्रं अलङ्कारादिः। आर्थी लक्षणायाश्च ध्वनिरिति। अर्थव्यञ्जकतायामेव वक्तुबोद्धव्यकावदादीनां साहाय्येन हेतुत्वं दर्शितम् मम्मटेन। लक्षणांमूलगुणद्वयद्विधाभ्यां सत्येवा-विश्वविश्वव्याप्यः स्वीकृतः। पर्यवसिते च वाक्यार्थे तात्पर्यादिवशाद् यत्रार्थेनार्थान्तरस्य व्यक्तित्वस्तत्रैव ध्वनिः आचार्यैः स्वीकृतः। वक्तुबोद्धव्याद्यष्टाश्रयत्वे बाधस्यार्थालोचनमिति।

एतदेवाभिसन्धाय पण्डितराजेनोक्तम् - "तात्पर्यविषयान्वये मुखार्थतावच्छेदकरूपेण मुखार्थप्रतियोगिकताया अभावो रुद्धिप्रयोजनयोरन्यतरत्वं तन्म इति। मुखार्थतावच्छेदकरूपेण मुखार्थप्रतियोगिकताया अभावः इत्यनेन अन्वयानुपपत्तिरुक्तताया-नुपपत्तिरन्यथारूपयोः शाब्दीः साहचर्यः कृतः। गङ्गायां घोष इत्यत्र तात्पर्यविषयान्वये मुखार्थगङ्गाश्रयस्य प्रतियोगिकत्वसम्बन्धेन नास्त्यन्वयः, अतो मुखार्थतावच्छेदकगङ्गात्वरूपेण तदप्रतियोगिकतायाऽन्ये सत्त्वेऽपि नास्तिशक्तिः। काकभ्योदधिरक्ष्यतामित्यत्र दधिरक्षणानुयोगिककाकप्रतियोगिकशाब्दबोधे, मुखार्थकाकस्य प्रतियोगिकतया जातेऽप्यन्वये वक्तुबोद्धव्यादिवैशिष्ट्याद् मुखार्थतावच्छेदककाकलक्ष्यस्य नास्त्यन्वयः, अपि तु दध्युपपातकत्वस्येति, उभयत्र लक्षणसमन्वयः अतः काव्यप्रकाशकारिकाया अर्थः स्पष्टीकरणीयः।

लक्षणाया, हेतुव्रितये, साक्षाद् हेतुत्वार्थकपञ्चम्यन्तर्पदं तावद् रुद्धिप्रयोजनप्रवृत्तयते। मुखार्थबाध मुखार्थयोगन्यतरतुदये कथं न पञ्चम्यन्तर्पदमाहम् ? इति क्रियमाणे विचारे, तात्पर्यविषयान्वये मुखार्थबाधे जाते सति तदयोगे इति, मुखार्थतावच्छेदकयोगे प्रयोजनतः श्रुतं लक्षणा अन्वयानुपपत्तिरुक्ता। तात्पर्यानुपपत्तिरुक्ता तु, तदयोगे, तात्पर्यविषयान्वये मुखार्थयोगे, जाते सति, मुखार्थ-बाधे-वक्तुबोद्धव्यादिवैशिष्ट्यात् शक्यार्थबाधे, प्रयोजनप्रवृत्तौ लक्षणा। इति कारिकायाः।

इयं लक्षणा रुद्धिप्रयोजनवती चेति द्विविधा। तत्राद्या द्विविधा शाब्दा गौणी च। धर्मस्याऽयमनुकूल इत्यादिवानुकूलप्रतिकूलानुलोम-प्रतिकूलमित्यादिवशाद् कालानुगताद्यर्थेषु बाधितत्वादिविच्छिन्न प्रयोगप्रवाहवशादेकवस्तुप्रदानात्कालात् सादृश्येन सम्बन्धेनानुगुणादीन् लक्षयन्ति। अतोऽत्र सादृश्यसम्बन्धाद् गौणी। कर्मणि कुशल इत्यत्र

विवेकत्वादिसम्बन्धः सादृश्यसम्बन्ध एव बोद्धव्यः ।
नीलोत्पल इत्यादौ नीलशब्दस्यैवपणरूपप्राप्तयस्य सम्बन्धसम्बन्ध
नि गौणी लक्षणे अतोऽत्र शुद्धा भेदः ।

द्वितीया प्रयोगजन्यता अपि पूर्ववत् शुद्धा गौणीभ्या द्विविधा
तत्रात्र लक्षणायां सादृश्यसम्बन्धसाध्यवसानभेदेऽप्युक्तम् । गौणी च सारोपा
साध्यवसानाभ्या द्विविधेति षड्विधा । एवमष्टविधा लक्षणा प्रायः
मुख्यतयाचार्यलक्षिता ।

कश्चिन्नु शुद्धा प्रत्यविधा गौणी द्विविधेति भ्रमप्रतिविधा लक्षणा
मन्वते तेषां भेदे शुद्धाया जहल्लक्षणा अज्ञातलक्षणा
जहदजहल्लक्षणा, सारोपा साध्यवसानेति पञ्चभेदाः । ते तेषु
जहल्लक्षणा गङ्गाया घोषः अजहल्लक्षणा कुन्ताः प्रविशन्ति
जहदजहल्लक्षणा वनं पुष्पितम् सारोपा आयुर्वृत्तम् साध्यवसाना
आयुर्वृत्तम् मन्वते । एतेषु जहदजहल्लक्षणा न लक्षणात्वेनालङ्कारिके
स्वीकृता । अस्या अवयवावयवसम्बन्धेन क्रियमाणलक्षणायामभ्युपगमः ।
अन्यथा स्वस्वार्थभावात्तादर्थ्यं तात्पर्यादीनां पृथक्त्वेन ग्रहण
स्यात् । अतः कार्यकारणभावादिषु मध्ये एतेषां सर्वेषां सम्बन्धना
ग्रहणान्न तावज्जहदजहल्लक्षणा युग्यमन्वत्या । इत्थं षड्विधा लक्षणीति
पूर्वं निर्दिष्टम् ।

ननु जहल्लक्षणायाः शुद्धासाध्यवसानयोरीत्या कश्चन भेदः
गङ्गायां घोषः आयुर्वृत्त इत्यादिस्थलस्य अपेक्षाभिष्यक्तिरिति वाच्यम् । यथा
शैत्यपावनत्वादिशब्दप्रतीत्यर्थं गङ्गातटधारभेदप्रतीतिरिच्छते
तदवयवविचारितकार्यकारणभावप्रतीत्यर्थं आयुर्वृत्तधारभेदप्रतीतिः ।
अतः उपपन्नं विधायनं कृतविषयकतत्त्वतुल्यवैयर्थ्यानादिको भेदो
लक्षणाया मन्तव्यः न तु पञ्चभेद इति चेत्, उच्यते —

वस्तुतः स्वकार्यवेदानां सादृश्ययोगो किञ्चित्तु वैलक्षण्यं प्रतीयते
प्रयोगोपायविषयविषयिणीरूपादात तत्र सारोपा तथा च तत्रैव विषयि
मात्रप्रतीपादने साध्यवसानेति प्रसिद्धिः । अतः आयुर्वृत्तम् आयुर्वृत्तं
प्रवृत्तित्वं, आयुषि प्रवृत्तिरित्यादिवद् गङ्गाया घोष इत्यत्र गङ्गाया
तटे घोषः, गङ्गातटे घोष इत्यादीनां प्रयोगो न लक्ष्यते ।

गङ्गातटयोः सामीप्यसम्बन्धस्य प्रमितत्वात् लोकाज्जवाक्याभ्यां
विषयविषयिण्येन इष्टतत्त्वः । गौर्वाहीकः आयुर्वृत्तादीनां विषयविषयिण्यं
लोकाज्जवाक्याभ्यां प्रसिद्धमिति इति तदुक्तधर्मस्यान्यत्र प्रतीति-
मुलभावेन । अथवा अविनाभावसम्बन्धेन सामीप्यादिः शुद्धा जहल्ल-

क्षणायास्तदितरतादर्थ्यतात्कर्म्यादिः साध्यवसानसारोपादिसुद्धा-
लक्षणाया विषयः मन्तव्यः । अन्यथा कुन्ताः प्राक्प्रशान्ति इत्यत्रापि
कृतगततैक्षण्याविवेकत्वादिधर्मोपरकतत्पुरुषाणां तदभेदप्रतीतिस्तत्रापि
साध्यवसानेति वक्तुं युज्यते ।

अतः क्रियायामन्वयाय यथा कुन्ताः कृतधारणः पुरुषान्
आश्रियन्ति तथैवाधारधेयभावसिद्धयर्थं गङ्गाशब्दो न, अपितु स्वार्थ-
मर्थथा ततोऽप्युच्यते तथैव समाभिध्याहृतपदाश्रयातादात्म्यप्रतिपत्ति-
सामानाधिकरण्येन विषयविषयिणोर्निर्देशः सारोपायां तथा च
अन्तःकृतविषयविषयिमात्रोपादानेन संवधाऽभेदप्रतिपत्त्यर्थं साध्यव-
सानायां इति परस्परं भेदक बीजं स्वीकर्तव्यम् ।

यथा प्रवेशनक्रियायां कुन्तस्यान्यन्यवस्था आधारत्वेन नास्ति
गङ्गाया अन्वयः, गङ्गात्वेन तदस्य प्रतीतावपि नास्त्युपादानं यतो हि
घोषाधारत्वेन गङ्गात्वस्यान्वयो न सम्भवति । अतः लक्षणां उपादनयो-
परस्परं भेदः । एवमेव आयुर्वृत्तमित्यत्र समाभिध्याहृतयोः समानाधि-
करणयोः कार्यकारणभावादिनाऽभेदादन्वयः आयुष्टवस्थापि समन्वयात्
लक्षणां लक्षणातो भेदः । आयुर्वेदमिति साध्यवसानाया आयुष्टवृत्त-
त्वोभयधर्मविशिष्टवृत्तस्यान्यपदाशान्वय इति स्वरूपसंवेदनापि
भेदमादाय भिन्नतया निर्देशो विहितः अतः षड् लक्षणा ।

जहल्लक्षणायामभेदाभिष्यक्तिसन्वेऽपि वाक्यार्थान्वयमात्र-
सम्पादनं प्रवृत्तायां लक्षणायां नास्ति तत्त्वेनान्वयः अपितु अन्वयानन्तरं
तत्त्वप्रतिपत्तिः, तत्त्वप्रतिपत्तौ सत्यमेव प्रतिपिपादयित्वा प्रयोजन
सम्प्रत्ययः । मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यभानस्य स्वीकारोऽपि
मुख्यार्थतावच्छेदकस्य वाक्यार्थान्वये तस्मिन् किञ्चित् सामर्थ्यमिति
ध्येयम् । अतः सर्वथा अभेदाभिष्यक्तमेवादाय भेदविगलनं न
विचारसहम्, अभिव्यक्त्या सर्वत्राभेदस्य सुग्रहात् ।

अभेदस्तावन्नास्ति लक्षणाया विषयः । सारोपलक्षणायां गौर्वाहीक
इत्यादौ गवाभिन्नो वाहीकइति शाब्दबोधाय लक्षणाया मास्तु
आवश्यकता संसर्गेणैव अभेदेनान्वयस्य सम्भवात् । आहारज्ञानस्यैव-
शाब्दस्यापि बाधबुद्धिप्रतिपत्त्येवाभावात् ननु गवाभिन्नैव इत्यन्वात् । अतः
गौणीसारोपायामभेदेन शाब्दबोधानन्तरं तादात्म्यप्रत्ययः फलं मन्यते ।
तादात्म्यप्रत्ययाय गौर्वाहीकः इत्यादौ विषयिगोशब्दादिभि-
लक्षणाद्योपस्थापितानां गवादिसुश्रुताभेदसंज्ञायां वाहीकादिशब्दो-
पस्थापितैर्वाहीकत्वादिविशिष्टवैयर्थ्यादिति सिद्धम् । न च गवादिपदस्य

विवेकलक्षणादिस्मृत्यः सादृश्यसम्बन्ध एव बोध्यः ।
मीलभेद इत्यादी गल्लक्षणायाः प्रत्यक्षसम्बन्धः अप्रत्यक्षसम्बन्धः
न गणी लक्ष्यते अतोऽतः शुद्धा स्ति ।

द्वितीयं प्रयोजनवती अपि पूर्ववत् शुद्धा गौणीभ्यां द्विविधा ।
तत्राह लक्षणापोषादनसरोपसाध्यवसानभेदेऽन्तर्धः । गौणी च सारोप
साध्यवसानाभ्यां द्विविधेति बहुविधा । एवमष्टविधा लक्षणाः प्रायः
मुख्यतया नादौर्लक्षिताः ।

कश्चिन्तु शुद्धा प्रत्यविधा गौणी द्विविधेति सप्तविधा लक्षणा
भन्यन्ते । तथा मते शुद्धाया जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा
जहदजहल्लक्षणा, सारोपा साध्यवसानेति पञ्चभेदाः । ते तेषु
जहल्लक्षणा गङ्गायां पोषः, अजहल्लक्षणा कुन्ता प्रविष्टानि
जहदजहल्लक्षणा 'वनं पृथिवीम्' सारोपा आयुर्वृत्तम् साध्यवसाना
आयुर्वेदे' मन्वते । एतेषु जहदजहल्लक्षणा न लक्षणात्वेनालङ्कारिकं
स्वीकृता । अस्या अत्यवधार्यविसम्बन्धेन क्रियमाणलक्षणायाः मन्वते ।
अन्यथा स्वस्वामिभावतादर्थः - तात्कर्म्यादीनां पृथक्त्वेन ग्रहण
स्यात् । अतः कार्यकारणभावादिषु मध्ये एतेषां सर्वेषां सम्बन्धानां
ग्रहणान्न तावज्जहदजहल्लक्षणा पृथक्भन्यन्ते । इह पञ्चविधा लक्षणानि
पूर्वं निर्दिष्टाः ।

ननु जहल्लक्षणायाः शुद्धासाध्यवसानयोर्नास्ति कश्चन भेदः
गङ्गायाः पोषः आयुर्वेदे इत्यादिभ्यस्तेषु अपेक्षाभिव्यक्तिसंवातेन । यथा
श्रीकृष्णवाचनवाक्येतिशयप्रतीत्यर्थं गङ्गातटयोर्भेदप्रतीतिरिच्छते
तथैवावधारितकार्यकारणभावप्रतीत्यर्थं आयुर्वृत्तयोरेव भेदप्रतीतिः ।
अतः उपाधय विषयान्तःकृतविषयकतत्त्वतः प्रत्यक्षसम्बन्धानां भेदो
लक्षणायाः भन्यन्ते । न न पृथग्भेद इति चेत्, उच्यते -

वस्तुतः स्वल्पसम्बन्धनाशमलायोर्भेदो किञ्चिद्वैलक्षण्यं प्रतीयते
यसोपयोर्विषयविशेषाणोत्पादनं च सारोपा तथा च तत्रैव विषयि
मात्रपरोपादाने साध्यवसानेति प्रसिद्धिः । अतः आयुर्वृत्तम् आयुर्विभुते
प्रवृत्तिर्वा, आयुर्भिः प्रवृत्तिरित्यादिव गङ्गायां पोषः इत्यत्र गङ्गाया
तटे पोषः, गङ्गातटे पोष इत्यादीनां प्रयोगो न लभ्यते ।

पङ्कतयोः सामीप्यसम्बन्धस्य प्रसिद्धत्वात् लोकातवाक्याभ्यां
विषयविषयत्वेन शङ्कितम् । गौर्वाहीक आयुर्वृत्तयोः विषयविषयत्वेन
लोकातवाक्याभ्यां प्रसिद्धमिति शङ्कितं तदुपपन्नसंस्यान्यत्र प्रतीति
सुलभायते । अथवा अविनाभावसम्बन्धेन सामीप्यादिः शुद्धाजहल्ल-

क्षणायाः दिनस्य तादृशतात्पर्यादिः साध्यवसानसरोपादिशुद्धा
लक्षणायाः विषयः भन्यन्ते । अत्राह कुन्ता प्रविष्टानि लक्षणापि
कुन्तागततैश्च यानि विवेकलक्षणादिभ्योऽप्युक्तपूरुषाणि तदभेदप्रतीतिरपि
साध्यवसानेति वक्तुं युक्तम् ।

अतः क्रियायामन्वयाय यथा कुन्ताः कुन्तधारणः, पुरुषाणः
आशेषेति तथैवाधारधेयभावसिद्धयर्थं गङ्गाशब्दो न, अपितु स्वार्थ
नर्था तदेतदप्येति नश्येत् यमभिध्याहृतपदार्थतादृश्यप्रतिपत्त्यर्थं
समानाधिकरण्येन विषयविषयिणोर्निर्देशः सारोपाया तथा च
अन्तःकृतविषयविषयिमात्रोपादानेन सर्वथाऽभेदप्रतिपत्त्यर्थं साध्यव
सानायां इति परस्परं भेदकं बोधं स्वीकर्तव्यम् ।

यथा प्रवेशनक्रियायां कुन्तस्याप्यन्वयस्तथा आधारत्वेन नास्ति
गङ्गायाः अन्वयः, गङ्गात्वेन तटस्य प्रतीतिर्वापि नास्त्युपादानं यतो हि
शोणधारत्वेन गङ्गात्वस्यावयो न सम्भवति । अतः लक्षणापोषादनयो
परस्परं भेदः । एवमेव आयुर्वृत्तमित्यत्र समीप्यत्वाद्गतयोः समानाधि
करणयोः कार्यकारणभावोऽपि भेदकः । आयुर्वृत्तस्यापि समन्वयात्
लक्षणा लक्षणातो भेदः । आयुर्वेदेति साध्यवसानायां आयुर्वृत्त-
त्वोभयधर्मविशिष्टपदस्याप्युपदानान्वय इति स्वरूपसर्वेदनाशेषु
भेदमादाय भिन्नतया निर्देशो विहितः अतः पट्टं लक्षणा ।

जहल्लक्षणायां भेदाभिव्यक्तिसत्त्वेऽपि वाक्यार्थान्वयमात्र-
सम्पादने प्रवृत्तायां लक्षणायां नास्ति तत्त्वेनान्वयः अपितु अन्वयानन्तरं
तत्त्वप्रतिपत्तिः । तत्त्वप्रतिपत्तौ साध्यार्थे प्रतीतिप्राप्त्यर्थे प्रयोजन
सम्प्रत्ययः । मुख्यार्थतात्त्विकरूपेण लक्ष्यमानस्य स्वीकरोऽपि
मुख्यार्थतात्त्विकरूपस्य वाक्यार्थान्वये नास्ति किञ्चिद्वैलक्षण्यमिति
ध्येयम् । अतः सर्वथा अपेक्षाभिव्यक्तिसंवादाय भेदविवरणं न
विचारसहम्, अपिभ्यवक्तव्यं सर्वकार्पण्यं सुग्रहात् ।

अभेदस्तावन्नास्ति लक्षणायाः विषयः । सारोपलक्षणायां गौर्वाहीक
इत्यादी गवाभिन्नौ वाहीकइति शब्दबोधाय लक्षणायाः सास्तु
आवश्यकता समीचीने अपेक्षावयवस्य सम्भवात् । अङ्गापेक्षावयव-
शब्दस्यापि बाधबुद्धिप्रतिबन्धतात्त्विकरूपकोऽविवेचयत्वात् । अतो
गौणीसारोपायमभेदेन शब्दबोधानन्तरं तादात्म्यप्रत्ययः फलं भन्यते ।
तादात्म्यप्रत्ययाय गौर्वाहीक इत्यादौ विषयिगौर्वाहादिभि-
लक्षणायोपस्थापितानां तादात्म्यप्रधानमभेदसंज्ञा वाहीकादिशब्दो-
पस्थापितैर्वाहीकत्वादिविशेषैर्वाहीकादिभिरन्वयः न च तादात्म्यस्य

विवेकत्वादिसम्बन्धः सादृश्यसम्बन्ध एव बोद्धव्यः। नीलंगुण इत्यादौ नीलशब्दवान्युपगन्धपशक्यस्य समवायसम्बन्धेन गुणी लक्ष्यते अतोऽत्र शुद्धा स्वरूढः।

द्वितीया प्रयोजनवती अपि पूर्ववत् शुद्धा गौणीभ्यां द्विविधा। तत्राद्या लक्षणापादानसारापसाध्यवसानेन भेदश्चतुर्था। गौणी च सारापसाध्यवसानाभ्यां द्विविधेति षड्विधा। एवमष्टविधा लक्षणाः प्रायः मुख्यतयाचार्यलक्षिताः।

कश्चित् शुद्धा पञ्चविधा गौणी द्विविधेति सप्तविधा लक्षणा मन्यते। तेषां मते शुद्धाया जहललक्षणा अजहललक्षणा जहदजहललक्षणा, सारापा साध्यवसानेति पञ्चभेदाः। ते तेषु जहललक्षणा गङ्गायां घोषः, अजहललक्षणा कुन्ताः प्रविशन्ति जहदजहललक्षणा 'वनं गृषितम्' सारापा आयुर्वृत्तम् साध्यवसाना आयुर्वेदम्' मन्वते। एतेषु जहदजहललक्षणा न लक्षणात्वेनालङ्कारिकैः स्वीकृता। अस्या अवयवावयविसम्बन्धेन क्रियमाणलक्षणायामन्तर्भावः। अन्यथा स्वस्वमिभावतादर्थ्य- तात्कर्म्यादीनां पृथक्त्वेन ग्रहणं स्यात्। अतः कार्यकारणभावादपि मध्ये एतेषां सर्वेषां सम्बन्धानां ग्रहणान् तावज्जहदजहललक्षणा पृथङ्मन्तव्या। इत्थं षड्विधा लक्षणेति पूर्वं निर्दिष्टम्।

ननु जहललक्षणायाः शुद्धासाध्यवसानयोर्नास्ति कश्चन भेदः, गङ्गायां घोषः आयुर्वेदे इत्यादिस्थलेषु अभेदाभिव्यक्तिरेवास्ति। यथा श्रौतपावनवाहानि शयपनौतव्यं गङ्गातटयोरेभेदप्रतीतिरिष्यते तदैवाव्यभिचारितकार्यकारणभावपनौतव्यं आयुर्वृत्तयोग्यभेदप्रतीतिः। अत उभयत्र विषयव्यन्तः कृतविषयरूपतटघृतयोर्व्यवस्थानादेर्को भेदो लक्षणायां मन्यन्ते न तु पृथग्भेद इति चेत्, उच्यते —

वस्तुतः स्वकृत्यभेदेनाशमादायोभ्याः किञ्चित्द्वैलक्षण्यं प्रतीयते यत्रोभयोर्विषयविषयिणोपादानं तत्र सारापा तथा च तत्रैव विषयि मात्रपादानेन साध्यवसानेति प्रसिद्धिः। अतः आयुर्वृत्तम् आयुर्विद्युते प्रवृत्तिर्वा, आयुषि प्रवृत्तिरित्यादिवद् गङ्गायां घोषः इत्यत्र गङ्गायां तटे घोषः गङ्गातटे घोष इत्यादीनां प्रयोगो न लभ्यते।

गङ्गातटयोः सामीप्यसम्बन्धस्य प्रमितत्वात् लोकापवाक्याभ्यां विषयविषयित्वेन इतिग्रहः। गौर्वाहीक आयुर्वृत्तदीनां विषयविषयित्वं लोकापवाक्याभ्यां प्रसिद्धमिति इति तदुपगतधर्मस्यान्वयः प्रतीतिः सुलभायते। अथवा अविनाभावसम्बन्धेन सामीप्यादिः शुद्धाजहलल-

क्षणायास्तदितरेतादर्थ्यतात्कर्म्यादिः साध्यवसानसारापदिशुद्धा-लक्षणाया विषयः मन्यन्ते। अन्यथा कुन्ताः प्रविशन्ति इत्यत्रापि कृतगततैलक्षण्याविवेकत्वादियमोपरक्तपुरुषेष्वपि तदभेदप्रतीतिस्तत्रापि साध्यवसानेति वक्तुं सुलभम्।

अतः क्रियायामन्वयाय यथा कुन्ताः कुन्तधारिणः पुरुषान् आश्लिषन्ति तथैवाधारधेयभावसिद्धयर्थं गङ्गाशब्दो न, अपितु स्वार्थं सर्वथा तटेऽर्पयति तथैव समभिधोवाह्यतपदार्थतादात्म्यप्रतिपत्त्यर्थं सामानाधिकरण्येन विषयविषयिणोर्निर्देशः सारापायां तथा च अन्तःकृतविषयविषयिमात्रोपादानेन सर्वथाऽभेदप्रतिपत्त्यर्थं साध्यवसानायां इति परस्परं भेदकं बीजं स्वीकर्तव्यम्।

यथा प्रवेशनक्रियायां कुन्तस्याप्यन्वयस्तथा आधारत्वेन नास्ति गङ्गाया अन्वयः, गङ्गात्वेन तटस्य ताताविपि नास्त्युपादानं यतो हि घोषाधारत्वेन गङ्गात्वस्यान्वयो न सम्भवति। अतः लक्षणापादनयो परस्परं भेदः। एवमेव आयुर्वृत्तमित्यत्र समभिधोवाह्ययोः समानाधिकरणयोः कार्यकारणभावादिनाऽभेदादप्ये आयुष्टवस्यापि समन्वयात् लक्षणलक्षणातो भेदः। आयुर्वेदमिति साध्यवसानायां आयुष्टववृत्तत्वेभ्यधर्मविशिष्टघृतस्यान्यपदार्थान्वय इति स्वरूपसर्वेदनाशेषु भेदमादाय भिन्नतया निर्देशो विहितः अतः षड् लक्षणा।

जहललक्षणायां भेदाभिव्यक्तिस्तत्वेऽपि वाक्यार्थान्वयमात्र-सम्पादनं प्रवृत्तायां लक्षणायां नास्ति तत्त्वेनान्वयः अपितु अन्वयानन्तरं तत्त्वप्रतिपत्तिः, तत्त्वप्रतिपत्तौ सत्यामेव प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनं सम्प्रत्ययः। मुख्यार्थतावच्छेदकरूपेण लक्ष्यभानस्य स्वीकारेऽपि मुख्यार्थतावच्छेदकस्य वाक्यार्थान्वये नान्ये किञ्चिन्नामार्थ्यमिति ध्येयम्। अतः सर्वथा अभेदाभिव्यक्तिमेवादाय भेदविगलनं न विचारसहम्, अभिव्यक्त्या सर्वत्राभेदस्य सुग्रहात्।

अभेदस्तावन्नास्ति लक्षणाया विषयः। सारापोलक्षणायां गौर्वाहीक इत्यादौ गवाभिन्नो वाहीकइति शाब्दबोधाय लक्षणाया मास्तु अवनश्यकता संसर्गेणैव अभेदेनान्वयस्य सम्भवात्। आहार्यज्ञानस्येव शाब्दस्यापि बाधबुद्धिप्रतिपत्त्येतावच्छेदकत्वेन गौर्वाहीकत्वमिति बोध्यम्। अतो गौणीसारापायामभेदेन शाब्दबोधानन्तरं तादात्म्यप्रत्ययः फलं मन्यते। तादात्म्यप्रत्ययाय गौर्वाहीकः इत्यादौ विषयिगोशब्दादिभिलक्षणायोपस्थापितानां गवादिमदृशानामभेदमसंगौणं वास्तवकादिशब्दोपस्थापितैर्वाहीकत्वादिविषयैर्वाहीकादिभिन्नैः स च गवादिपदस्य

गवादिसादृश्ये लक्षणा, अभेदेन वाहीकादावन्वयासम्भवात् । नार्थयो भेदातिरिक्तसंसर्गेण विशेषणविशेष्यभावतत्वात्न्यासम्भवात् ।

गोसदृशाभिन्नो वाहीक इति शाब्दबोधे उपमावाचकसदृशसदृश्यसत्त्वेऽपि नोपमाया विषय एकपदोपात्तगोसदृशयोरेवैवाभेदान्वयाद् गोपदनिष्ठगोत्वमेवावच्छेदकतयोपयोः संगृह्यते । अतः सादृश्यस्याभावान्नेत्या । यथा 'सकलकलं पुरमेतज्जातं सम्प्रति सुधाशुविनिमिष' इत्यत्र नानाशकसकलकलशब्दस्य सकलकलत्वमेवाभेदांतरार्थयो र्वन्च्छेदकः । अतः श्लेषस्थले इवात्रापि एकशब्दोपादान्त्वोक्तस्य व्यञ्जनयोपायात्वाच्चन्द्रसदृशयोस्तादृश्यप्रत्यये वैयञ्जनिकं बाध-तुदृध्यप्रतिबन्धनात् । इत्थमत्र सादृश्यं न भेदप्रतिष्ठनयो भेदाप्रति-सादृश्यं गौणसरोलक्षणायां भेदप्रतिष्ठे सादृश्यजोपात्तामित् स्फुटं शब्दोक्ति नोपमाया अत्र प्रसूतः । विषये वाहीकादीविषयितावच्छेदकस्य तात्वादेः समन्वयान् तादृश्यसर्वेदनं फलम् । 'वक्त्रे कम्पसि स्थिते किमप्य शीताशुक्लं स्मरते' इत्यादी विषये विषयितादृश्यस्य प्रत्ययः । अन्यथा चन्द्रसदृशे वक्त्रे स्थितेऽपि सत्यचन्द्रस्योऽव्यभिचारेण कृत प्रश्नः स्यात् । इत्थं गोसदृशाभिन्नो वाहीक इति शाब्दबोधे गवाभिन्न-सदृशः, सदृशाभिन्नो वाहीकः तस्माद् गवाभिन्नो वाहीक इत्येति सुवचः । स्वतःसादृश्यवदभेदबुद्ध्या स्वतादृश्यस्य सुबोधतया तस्मिन्नापि तिस्य सिद्धेः ।

इत्थं विषयिवाक्यपदेन गवादिना विषयिगवादिबुक्तिजाड्यसन्धादिगुणवतो लक्षणायां सारोपायोपस्थितौ विषये वाहीकादौ तस्याभेदेन संसर्गेण विशेषणतयान्वयः । एवञ्च गवादिबुक्तिजाड्यसन्धादि-गुणवदभिन्नो वाहीक इति शाब्दबोधः । न च गो सदृशो वाहीक इत्युपात्तो गोसदृशो वाहीक इति सारोपात्तरूपकस्य को भेदः समानशाब्दबोधविषयत्वात् । अपिचालक्षणादिबुक्तिमात्रवैलक्षण्यस्याः प्रयोजकत्वात् विच्छिन्नवैलक्षण्याभावादिति वक्तव्यम् । प्रयोजन-वैलक्षण्यसा लक्षणागच्छेत्तत्र जायमानेन प्रयोजनजीभुतना भेद-बोधेनैव वैलक्षण्यमात् । तादृशलक्षणायाः प्रयोजनवत्तातिरिक्तमात् । बुक्त्यान्वयव्यञ्जनावितिषाव्यञ्जनाभेदबुद्धेर्न बाधबुद्धिप्रतिबन्धत्वम् ।

नव्यास्तु नार्थयोरेवभेदसंसर्गेणान्वयस्य व्युत्पत्तिसिद्धत्वात् गवाभिन्नो वाहीक इति लक्षणा विनैव बोधः । संसर्गेणान्वयस्यो-पात्तलक्षणाकल्पकस्यान्यायत्वात् । लक्षणायाः स्वीकारे उपमि-विशेषणसमाप्तयोत्तरपदस्यलक्षणागत्वाविशेषात् रुचिप्रयोजन-

वत्योरूपभयोलक्षणयैव संग्रहात् एकस्योपमात्वमन्यस्यरूपकत्वमिति व्याहृतं स्यात् । एवं इत्थं गौरव, इवित्यस्तु न तथा अपितु गोसदृश इत्यादौ नवर्थस्य लक्ष्यमाणगोसदृशान्वयित्वात् 'न गो सदृशः गोसदृशः' इति बोधकदर्शनमाप्तेः । नहि नञः पश्चाद् वृत्त्यन्तरभाविफलौभूतज्ञानविषयेणाभेदान्वयो युक्तः भिन्नकालिकत्वात् । संसर्गेण जायमानस्याभेदबोधस्याहार्थत्वात् शाब्दत्वाद् वा न बाध-बुद्धिप्रतिबन्धत्वम् । सति च बाधनिश्चये तद्वत्ताशाब्दबुद्धेरनुत्पाद-योग्यताज्ञानविरहात् आहारयोग्यताया सत्त्वान्न बाधः । शाब्दत्वादपि नास्ति बाधबुद्धिः, यतोहि अत्यन्तासत्यपर्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि' इत्यस्ति प्राचा प्रवादः ।

अपि च विषयिगोगतजाड्यस्यान्यादिगुणवत्वबुद्धेः कथं गवाभिन्नबुद्धिर्वाहीके स्यात्, न हि साधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञानस्य त्वत्तदसाधारणधर्मावच्छिन्नाभेदज्ञाने हेतुत्वं कदाप्यवगमम् । इत्यन्येना भेदग्रहेऽपि वृत्तीवलयेः पृथिवीवादिना भेदग्रहात् । तदा नन्वेवैव ज्ञानादनन्तरं पुनस्तदधर्मप्रतिपत्तिः फलं स्यात्गङ्गायां घोष इत्यादिवत् प्रवाहाभिन्नज्ञानस्येव शैत्यपावनत्वादितिप्रतिपत्तिरिति ।

इत्थं वाच्यार्थयोरेवाभेदान्वयोऽभ्युगतव्यः न तु वाच्यलक्ष्ययोः । अन्यथा राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम् -

-पादाम्बुजं भवतु मे विजयाय मञ्जु मञ्जीरिशिञ्जितमनोहर-मुम्बिकायाः' इत्युदाहरणयोः राजनाराणं पदाम्बुजमित्युपययोरन्तर-प्रत्ययितप्रयोजनं कथिल्लक्षणागतसदृशपदाम्बुजमित्युपमात्तत्वात्तत्रो-विशेषणसमासाधीनलक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनोपमिगसमासाधीनमभ्युपगच्छा-शिशिञ्जितमनोहरत्वयोरेवपत्तिरितिगोपायका युक्तिर्नोपलभ्यते । यदि नोपमानसारायणपदस्य नारायणसदृशे लक्षणा तत्र लक्ष्यतावद्वेदकं सादृश्यं समानधर्मरूपम्, स च धर्मो लक्ष्ये राजनि शूरत्वादिविशेषरूपेण प्रतीयते उताहो सामान्यरूपेण । नाद्यः राजनारायणं शूरं श्रीरालिङ्गति निर्भरम्' इत्युक्त्या धीनसम्बन्धपान्तेः । न चोपात्ताधर्मातिरिक्तधर्म एव लक्ष्यतावच्छेदकोभूतसादृश्यरूप इति वक्तुं युक्तम्, शिल्प-साधर्म्यनिष्ठानरूपकस्थले श्लेषाभिन्नकाभेदाभावविशेषधर्मातिरिक्तान-धर्मास्यासवेदनात् । यथा -

अन्तःसारविशुद्धानि सरोगाणि सन्निवृत्तः ।

शरीराणि शरीराणि बुद्धवृत्तिर्न स संशयः ॥

त द्वितीयः सादृश्यस्य वृत्तौपलब्धौ उपमात्वापत्तेः । सादृश्यस्य

वाच्यतायामिव लक्ष्यतायामपि उपमा दृश्यते, यथा नलिन प्रतिपक्ष-
मानम्' इति।

विद्वन्मानसहस्र इत्यत्र भूपहंसयोः सरोमनोरुपार्थद्वयाभिधायक-
मानसनिष्ठमानसत्वरूपसाधर्म्यप्रयोज्यसादृश्ये सिद्धे सदृश-
लक्षणानुलक्ष्य हंसरूपकस्य निदिष्टः, उनाहो हंसरूपकस्य तौ-
सत्यामर्थद्वयाभिधानलक्षणस्य श्लेषस्यसिद्धिरिति विचार्यमाणं पूर्वं
रूपकस्मृतिरिव प्रमाणिता। स्फुरिते रूपके तदृष्टकसादृश्या-
न्यथानुपपत्तिरूपेण प्रमाणेनार्थद्वयाभेदफलकस्य तदुभयप्रतिपादनान्तर-
श्लेषस्य निषेधः। यथोक्तम्-

रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषं तज्ज्ञापयेत् यदि।

तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते। इति।

अतः नामार्थयोरभेदान्वयसंरिणव रूपकस्थले रमणीया।

इत्थं नव्यानां मते गौणीशुद्धयोः सारोपयोरुभयोरपि
नामार्थयोरभेदान्वयसंरिणरिद्रियते प्राचीनानां मते तु गौणीसारोपायां
उपमानपदस्योपमानसदृशे प्रयोजनवतीलक्षणाऽऽद्रियते तथा च शुद्धा
सारोपातः गौण्याशाब्दबोधे वैलक्षण्यमपि निरूप्यते। प्रयोजन-
वृत्तलक्षणायां भेदाकरम्बितसादृश्यस्य गौणीसारोपायां, तथा
भेदाकरम्बितसादृश्यस्योपमायां स्वीकारात्ततोभेदोऽपि निरूप्यते।

साध्यवसानायां तु 'गौर्जल्पति' 'आयुः रक्षति' इत्यादौ
गवादिशब्दैर्लक्षणाया वाहोक्तत्वेनोपस्थितस्य वाहोकादेर्जल्पनादिक्रियया
सहशब्दबोधः गोत्वादिना भवति। अथवा लक्षणया वाहोक्तत्वेन
वाहोक्तादेः शाब्दबोधे जाते, प्रकृतपोषात्प्रादुर्भूतया व्यञ्जनया गोत्वेन
बोधः फलस्मिन्पि भवति। उभयत्र गोत्वभानसाम्यमा वाहोक्तत्वादेः
स्वधर्मस्य भाग न निवार्यते। इत्येकस्मिन् धर्माणि वाहोक्ते गोत्वेन
वाहोक्तत्वेन च साक्षात् भानमेव साक्षात्पोषादस्य वैलक्षण्यम्।

अतएव 'क्वचनस्वम्यति वदन्म्' इत्यादि शङ्खत्वेनोपस्थितस्य
शङ्खे शङ्खत्वेनोपस्थितस्य चन्दस्य च शाब्दबोधानन्तरं व्यञ्जनया
क्वत्वादिना सम्यग्ज्ञाते भानम्।

पतान्मु पड्विधाम् लक्षणाम् गौण्योः सारोपमाध्यवसानयोः
रूपकानि शङ्खोक्त्यादौ शङ्खयोर्मुल्लवम्। शुद्धयोर्मुल्लवत्वेन उपमान-
लक्षणलक्षणयोन्मु लक्षणामुल्लवशक्त्युत्पन्नम् ध्वनोहेतुत्वम्।
अत्रान्वयानुपपत्तिः। मुखपार्श्वयोः जाते मयि वक्तुमन्तात्पर्यारि-
पार्श्वोत्पन्नया वक्तुमन्तात्पर्यादिवेशिण्याद वा मुखपार्श्वबोधे उपस्थिते

अन्यार्थलक्षणायां विपरीतलक्षणायां वा सत्यां ध्वनेर्विषयः। यथा-

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।

विदधेदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

अत्र वक्तुमन्तात्पर्यादिवेशिण्यादौ सत्यानामन्तरं बाध इति
अर्थगतत्वात् अर्थनिष्ठा, आर्थो वा लक्षणा। यत्र च शब्दश्रवण-
समकालमेव बाधः स शब्दनिष्ठलक्षणाया विषयो मन्तव्यः। इयमेव
तात्पर्यानुपपत्तिस्तात्पर्यादर्थादागता अनुपपत्तिरिति तात्पर्यानुपपत्तिः।
इत्यलम्।

तात्पर्याख्या वृत्तिः

काव्ये वाचकलक्षकव्यञ्जकेतिशब्दानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्येति अर्था
लभ्यन्ते। शब्दं विनाऽपि एकोऽर्थस्तात्पर्यार्थः काव्यप्रकाशादौ सर्वहामानं
मुपातो दृश्यते। यथा "तात्पर्यार्थोऽपि केपुचित्" इति। केपुचिदिति
बहुवचनान्तेन तात्पर्यार्थे समादरो लक्ष्यते, यथा रसनिष्पत्तिप्रसङ्गे
श्रीमदभिनवगुप्ताचार्यपादाः इत्युक्तां प्रतीयते। तात्पर्यार्थः
तात्पर्यादागतोऽर्थः इति व्युत्पत्तिस्वीकारे किं नाम तात्पर्यमिति जिज्ञासा
स्वाभावीकी। तात्पर्यार्थो लक्ष्यगताचार्येण विशेषणतया विशेषवक्तुमन्तात्पर्यार्थो
वाक्यार्थ इति पदत्रयं प्रदत्तम्। तत्र कीदृशो विशेषवपुः कीदृशोऽपदार्थः
अपदार्थत्वेऽपि कथं वाक्यार्थः इति प्रश्नो न जहाति चित्तम्।

आकाङ्क्षाया आत्मधर्मत्वात् सन्निधेः पदधर्मत्वादुपचारेणाथं
धर्मत्वं स्वीकृत्याकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिमन्तः पदार्थो यदा समन्विता
भवति तदानीं तात्पर्यार्थः समुल्लसति। तात्पर्यार्थः तात्पर्याख्य-
वृत्तिप्रतिपाद्यः। विशेषवपुः - वाक्यार्थवैलक्षण्यं संसर्गलक्षणं वपुर्गम्य
सः। अपदार्थः पदवृत्त्यविषयः। वाक्यार्थः पदसमूहगम्यः इति
वामनीटीकायां स्पष्टम्। अनेन संसर्गतारूपस्तात्पर्यार्थो व्याख्यातः।
उक्तञ्च काव्यप्रदीपे-लाघवात् पदानां पदार्थमात्रे शक्तिः न
त्वन्वयार्थेऽपि गौरवादन्त्यलभ्यन्तात्। तदंशो हि तात्पर्यार्थो वाक्यार्थो
वाक्यार्थवैलक्षण्यशरीर आकाङ्क्षायोग्यता सन्निधिवशादपदार्थोऽपि
प्रतीयते। न चापदार्थप्रतीतावतिप्रसङ्गः। स्वरूपसतः शक्यान्वयत्वस्य
नियामकत्वाद इत्यपिहितान्वयवादिना मतम्। मुद्रामागेऽपि - संसर्गस्य
कथं शाब्दबोध इत्यत्राह-वाक्यार्थ इति संसर्ग इत्यर्थः। इत्थं
संसर्गलक्षणाधीनलक्ष्ये तात्पर्यावृत्तिरित्यायाम्।

अनु पदार्थशक्तत्वेन ज्ञातं पदमेव स्वार्थस्मरणद्वारा आकाङ्क्षादि-
वशात् समभिव्याहतपदार्थेन सह संसर्गमर्यादया स्वार्थेऽन्वय इति

कार्यकारणभावकल्पनात् किमनया तात्पर्याख्यवृत्त्यतिवेत्तुं, शाब्द-
बोधे वृत्त्यविषयत्ववशात् वृत्तिकल्पयन्ति केचित् अतः कश्चिन्निरति-
लक्षणात्मकत्वमुप, भट्टगोपालेन व्याख्यातम् । 'अन्वये लक्षणे'ति
भट्टमानमपि तात्पर्यस्यैव नामान्तरलक्षणात्वेन नैवमिति सूत्राभावात् ।
एतेन स्पष्टं यद् भट्टमतानुसारेण संसर्गस्य शाब्दबोधविषयत्वं लक्षणा-
नामा, मूढवार्थबाधादिरूपलक्षणातिरिक्ता या स्वीकृता सैव
तात्पर्याख्येति ।

अत्रैतद् विचारणीयम्, अन्योपार्थेन प्रमाणेन वा लक्ष्यार्थस्य
कृते, कथं प्रमाणान्तर्वृत्तिस्वीकारः, नहि प्रमाणान्तरेणार्थेन प्रमितस्य
पदार्थस्य कृते प्रमाणान्तरेणैव प्रकल्प्यते विद्वद्भिः । नेतु
संसर्गातुरूपार्थमेव तात्पर्यं तर्हि संसर्गमार्थादयैव तस्य लब्धत्वात्
किमर्थमन्याव्याचारात् ।

अत उच्यते - न तावत् संसर्गातुरूपस्य वाक्यार्थस्य कृते
तात्पर्यं अपि तु अधिषयोपस्थितानां पदार्थानां संसर्गमार्थादयैव जाते
समन्वये सान्ध्यपदार्थात्मकः वाक्यार्थः तात्पर्यार्थः । अतः वृत्तौ
दर्शितुं 'पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थः विशेषवपुरिति' । नेतु
संसर्गातुरूपः समन्वय एव तात्पर्यार्थः तर्हि कथं व्यधिकरणत्वेन
समन्वयतात्पर्यार्थो निर्देशः अत उक्तं साहित्यचूडामणी - समन्वये-
सम्बन्धे सति इति । यथा पदार्थानां जातिगुणादीनामभिधेयत्वलक्षणाया
समन्वये, 'व्यपेक्षादिभिरकार्षणतयोपपत्त्यानां मिश्रोऽभिप्रेतसमन्वयः'
इत्युक्तत्वात्, सम्बन्धे सति पदार्थविरुद्धताया तदुपो वाक्यार्थः
इत्यङ्गीकार्यात् । विशेषसरितोत्तरफलसंसर्गादिर्बहुशकारो यस्य स
(विशेषवपुरिति) ।

अर्थात् 'सरितोत्तर' फलमस्ति वाक्ये सरितोत्तरमिति सरित्सम्ब-
न्धितमिति द्विवचनैरधिकरणत्वं फलमिति फलमर्थः संसर्गस्तु
संसर्गमार्थादयैति आधाराधेयभावः सर्वेषां वाक्यार्थत्वेन सरितोत्तराधि-
करणाकफलमिति । अधवासरितोत्तरिद्व्योपपत्त्यानिरूपिताधेयतावत्फल-
मिति शाब्दबोधः । अत्र फलविशेषणत्वेनायतस्य सरितोत्तराधि-
करणाकविशेषणस्य बहुव्रीहिसमासायातस्य नास्ति प्रत्यय पदार्थत्वम्
अतः एकविशेष्यकशाब्दबोधे काचिद् वृत्तिरवश्यमुपास्येति
वृत्त्यविषयस्य शाब्दबोधेऽभावात् । अन्यथा यस्य कस्यचिदपदार्थाया-
पिशाब्दबोधोपात्तेः । इत्थं सर्वोऽपि सरितोत्तरफलसंसर्गादि वाक्यार्थः
नातु केवलं संसर्ग इति ।

न च भेदाभेदात्मकसंसर्गस्य बहुव्रीहिसमासाधीनार्यत्व युक्तम् ।
अत एव घटमानयेति घटकर्मकानयनानुकूलव्यापार रूपवाक्यार्थे
आनयनविशेषणत्वेन स्थितस्य घटकर्म कत्वस्य
बहुव्रीहिसमासायातस्यापदार्थत्वं, वाक्यार्थत्वं च सुस्थिरम् ।
अतः सत्यम् -

अर्थात् पदार्थाभावात्, व्यापारत्वेण पुनरप्युक्तम् ।

अन्योन्ययोग्यसंसर्गमाकाङ्क्षन्ते परस्परम् ॥

संसर्गयोग्यैः कथितैः संसृष्टास्तं विमृश्य च ।

कस्योपकर्म इति च प्रधानस्यापेक्षते ॥

प्रधानं मत्परं तेऽपि पदार्थास्तत्परो यान् ॥

भवन्ति तस्मात्तात्पर्यमित्यर्थान्तरमुच्यते ।

वक्तृद्वारा वाक्यधर्मस्यैव वाक्यार्थकल्पनम् ।

विशेषणानि सर्वत्रविशिष्यन्त्वपि सर्वतः ॥

विशेष्यस्य प्रधानत्वं स्वाश्रयत्वंविवृण्वते ॥

यत्तु वामनीजीकायां विवरो स्पष्टमिति प्रतीकमादाय, यदापि
घटं करोतीति घटवृत्तिकर्मत्वानुकूला कृतिरित्यर्थे घटशब्दस्य
घटोऽर्थः, अमुप्रत्ययस्य कर्मता, वृत्तिता तु न कस्यापीत्यपदार्थोऽपि
वृत्तिता तात्पर्यवशाद् अन्यथा संसर्गावयवा भामते इत्युक्तम् ।
तत्र पृच्छयते, तात्पर्यवशात् संसर्गविधेया इत्येकमेव वा भिनम् ।
वृत्तिता तात्पर्यवशात् प्राप्ता, संसर्गमार्थादयै च घटकर्मताभ्यां सह
वृत्तितायाः सम्बन्धश्चेत् घटवृत्तिकर्मत्वस्य तात्पर्यं तर्हि कौटुली
संसर्गविधेया ? नेतु संसर्गविधेयं तात्पर्यं तर्हि एकत्र तात्पर्यवशात्
इति पञ्चमी अपरत्र संसर्गविधयेति तृतीयाविभक्तिः किमर्थम् । अतः
कृतिविशेषणत्वस्य, कर्मत्वानुकूला इत्येव तात्पर्यवशात् सन्तत्वात्,
वृत्तितानुकूलत्वयोस्तु संसर्गमार्थादयैति विवक्तिविषयतोभयो ।

अतः समन्वये सति तात्पर्यार्थः इति वृत्तौ निर्दिष्टम् ।
अन्तर्निहितापदार्थवाक्यार्थप्रतिपादकत्वेन स्वीकृताया तात्पर्याख्याया
रसनियन्तावपि तस्या एव सामर्थ्यं सन्तत्त्वम् । यतो हि विभासानुभाव-
व्याभिप्रायस्योपादयसिध्यातिरिति सूत्रे नियताधिहितविभावानुभाव-
व्याभिप्रायस्योपादयविनाभावात् साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्तमानो
रत्यादिस्थायी अपदार्थः वाक्यार्थो भवत्येव । यथा पूर्वं वाक्यार्थरूपकार्ये
पर्यवसानेनैव तदनुकूलबहुव्रीहिरादिपदार्थसमवेत निरतिशय-
सुखास्वादात्मकार्यप्रयोजसायित्वानुपातः स्थायी वाक्यार्थ-

स्वातन्त्र्यविषयो मन्वव्यः । सौख्यसमाप्तीकमेव सर्वनामि वाक्य काश्चिन्मन्
अन्तरत्वेऽनुपादेयकत्वात् । काश्चिदशब्दसमाख्यादयोरन्वयव्यतिरेकित्वेन
प्रतिपादाप्रतिपादकत्वात् । प्रतीकान्तसामुल्लेखः । स्वानन्दोद्भूतिरेव
कार्यक्षेपावधार्यते, ननुद्भूतिनिमित्तत्वं विभावदिर्नसंभ्रम्य श्लाघितः ।
अतो विभावदयः पदार्थस्थानीयास्तत्त्वसंस्पृष्टौ रत्यादिर्वाक्यार्थः,
तात्पर्यार्थः । विशिष्टविभावादिस्वामोविदुषामेव तथाविधग्रन्थादिभावा
वतामेव स्वानन्दोद्भूतेः वाच्यवाचकात्मकविभावादिवाक्यस्योपयोगः
अतो न सुखजनकगोतादाघातप्रसङ्गः । अत उक्तं दशरूपके —

वाक्या एकाग्रणादिभ्यो बुद्धिभ्या वा यथा क्रिया ।

वाक्यार्थं कारकयुक्ता स्यादीभावस्तथेतरैः ॥ इति

एवमेव भ्रम धार्मिक विश्वकर्मित्यादिस्मृत्येऽपि वक्तृविवक्षितप्राप्त्या
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्त्ये निषेधं विधिरूपसंगतिः । यथा अपेक्षापूरणा-
त्प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिर्भवति तथैव विवक्षितप्राप्त्या तस्याविश्रान्तिरपि ।
अत उक्तम् —

पौष्ट्येयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता ।

वक्त्राभेदतत्तात्पर्यमेतत् काव्यस्य युज्यते ॥

एतावन्त्येव विश्रान्तिरन्तर्गम्यतीति किं कृतम् ।

यावत्कार्यप्रसारित्वात् तावत्सं न गुणाधृतम् ॥ इति

इत्थं वाक्यार्थनिरूपणे अभिप्रायलक्षणातात्पर्योपेक्षाभ्योऽतिरिक्ततया,
वृत्तेर्नास्त्यपेक्षा समस्तवाक्यार्थावगतिस्तात्पर्यमस्ति सध्य एव ।
इदृशकाव्यरूपो वाक्यातो भावकः, स्मरण भाव्य इति काव्यरसयो-
र्ध्वत् भावकभाव्यसमन्वयः । इत्थं रसतिपातो भावनाक्रमव्यापारोऽपि
मन्वव्यः ।

इत्थं विशिष्टिप्रयोगोपायैर्नितो प्रतिष्ठा स वाक्यार्थः इति
बलाद् निमित्तानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते । इत्युपायान्वेषणप्रयासः ।
अथवा वक्तृरभिप्रेततात्पर्यमाश्रित्य प्रयुक्तः शब्दो यत्तत् स एव
शब्दार्थः, शब्दार्थोऽयमभिधेयार्थ एव, अतः अभिधेयेवैव्युपायप्रवददीर्घं
दीर्घतरव्यापार इति मन्तुं लाभकः । तावत्सं तु नाभिधानतर्कविभूतमेवेति
केनाप्यित् 'सोयमिषादि' दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः यत्परः शब्दः
स शब्दार्थ इत्युपायान्वेषणप्रयासः सिद्धयति । पुनस्तावत् तात्पर्यवादी
चिन्तते, यत्तात्पर्यमभिधानो धिन्नो व्यापारः कल्पः, यतोहि
उपायः 'सोयमिषादि' तात्पर्येण गृह्यते । यथा 'विष भक्ष्य मा
वासे' गृहे भुङ्क्ते । इत्यस्य वाक्यार्थः, एतद्गृहे न भोज्यत्वमिति ।

अतोऽयं तात्पर्यार्थः शब्दार्थातिरिक्तः । यथा च पूर्वोक्तान्वयान्तरादिना
रत्यादिर्वाक्यार्थो निर्दिष्ट इति । इत्थं ध्वन्यालोकास्य कर्तृयानन्दवत्
नाचार्यस्य व्यञ्जनव्यापारं निरानिकोपूणामभिप्रायो दृश्यते ।

एतान् सर्वान् अपि विकल्पान् आचार्यमम्मटः समाहृत्य
तात्पर्यार्थ्यां स्वीकुर्वन्ति तस्याः विषयमभिधादिव्यापारवत् नियम्य
व्यञ्जनायास्तया, अगतार्थत्वं निर्दश्यन्तातः —

अर्थशक्तिमूलेऽपि विशेषे संकेतः कर्तुं न युज्यते इति
यत्तात्पर्यार्थं पदार्थानामभिधानि विषयतात्पर्यं यत्पदार्थानां
यत्रापदाद्योऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवदो वा वातो
व्यङ्ग्यस्याभिधेयतासाम् ।

अस्यायमभिप्रायः — अभिधा सामान्यरूपेण पदार्थमात्रे उपधीणा
वाक्यार्थरूपान्वितविशेषोपवधार्यैव सा न प्रभवति, तदर्थमेव तात्पर्यं
वृत्तित्वेन कल्प्यते, तर्हि भ्रम धार्मिकं त्यादौ निषेधस्य व्यङ्ग्यताया
कृतः तस्याः सामर्थ्यम् ।

अस्तु मा भवत्वत्राभिधा, तात्पर्येणैतस्य सिद्धिरिति चेत् तदापि
न, तात्पर्यस्यापि अभिहितपदार्थानामन्वयमात्रे सामर्थ्यम् ।
तत्तन्निष्पत्तिविशेषविशेषणतया परस्परसंसर्गात्मकवाक्यार्थवोधायैव सा
प्रभवति न तु तदतिरिक्तविशिष्टादिबोधकतया । 'शब्दबुद्धिकर्मणां
विरम्य व्यापाराभावा इति सिद्धान्तात् ।

अतो यदुच्यते 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते' अर्थात्
नैमित्तिकं हेतुमदर्थः तदर्थानुसारेण यदुत्पन्नयोगाधीनप्रतीतिहेतुकं तत्
तन्निमित्तकमित्याकारेण निमित्तानि सम्बन्धग्रहणादीनि कल्पन्ते ।
अत्र दुष्कृतं किं नृप निमित्तकम् । निमित्तत्वेन वाक्यत्वं गृह्यते
ज्ञापकत्वं वा । अत्र नृप शब्दस्य कारकत्वं वृत्तीदृकशब्दानामुच्चारणं
मुख्यं कर्तृत्वात्तन्निमित्तं प्रमाणविज्ञं स्यात्तम् । अतः शब्दस्य
एकाशकत्वान्न कारकत्वम् । ज्ञापकत्वञ्चैव तर्हि ज्ञातमेव दुर्भादि
अग्नेर्ज्ञापकम्, अतोऽज्ञातस्य कश्चापि ज्ञापकत्वम्, न घटते
शब्दनिष्ठज्ञापकत्वं तु ज्ञातत्वेनैव सम्भवति, ज्ञातत्वं च सङ्केतमेव ।
स च सङ्केतोऽन्वितपदार्थमात्रेऽप्येतादयान्वितवाक्यार्थमिति — स
तात्पर्योपेक्षायां विरतायां, तदतिरिक्तविशिष्टादिप्रतीतिः कर्तुं ताभ्यां
घटते । यतो हि निमित्तस्य नियतनिमित्तत्वं यावन्न निश्चितं
तावन्निमित्तकस्य प्रतीतिरेव कश्च । अतो नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि
कल्पन्ते इत्यभिचारिताभिधानम् ।

ये न तु यत्परः शब्दः स शब्दार्थः । सोयमिपोरिव दीर्घदीर्घतरा-
भिधत्वात्परः इति वक्तुरभिप्रेततत्परमभिधातुमिच्छति तेषामपि दृष्टौ
विधिनभिधेयानिर्नाभियया वहीतुं शक्यते । यतोहि यत्परः शब्दः स
शब्दार्थः इत्यस्यायमेवमभिप्राय उच्योक्तिरपि तु साधकमन्वयान्त्या न
केवलं तद्वत्तत्पदार्थः, अपि न तु कदन्तपदार्थोऽपि तत्पर्यं वेत्तुं तर्हि
तत्पदि साधकमन्वयान्तरक्यं वक्तुमस्मात्तत्पर्यमभिधातव्यम् । किमेव
प्रवृत्तिनिमित्तं पदार्थानाम् । भूतजन्यसमुच्चाराणं भूतं भव्यायोपातिव्यस्तं
इति भूतजन्यताकपदार्थो मव्यायान्तराकपदार्थोऽप्यभिधत्तव्यमात्रं एषाम-
तिज्जलक्यानिर्वर्तकतया स्वात्मनिष्ठक्रियाया अप्यभिधत्तव्यं विद-
धतः साध्यमात्राणांनूतनम् । ततश्च वाक्यान्तराद् यावदाप्यन्तं तावदेव
वाक्याद् विधीयते न तु वाक्यान्तराण्यन्तमपि । यथा वहिनयवत्त-
दन्तकचक्षुर्मणिकणस्तोक्तेव दहति न तु दह्यमपि । अतः क्वचित्
एवमस्ति इति वाक्यात् एषान् क्वचित्प्रचरणो लोहितलोणीतौ क्वचित्
एवमस्ति इति वाक्यात् केवलं लोहितलोणीत्वमात्रपरः शब्दः
लोहितलोणीत्वमात्रशब्दार्थमभिधत्तवानिति विधीयतया, अतः
लोहितलोणीत्वमात्रमेव विधेयम् । एवमेव हवन्त्यान्त्यतः वाक्यात्
प्राप्तत्वात्, दत्ता जुहोति इत्यभ्यात् वाक्याद् दत्तं करणत्वमात्रं
विधेयम् । एवमेव क्वचिद्वदभ्यासि क्वचित्विधिविधिः । यथा एकेत
पदं वयं इति वाक्ये वयन्, प्रवयन्, यस्तुपदवयनामिति, इत्यादिना
एवं अनुपत्तिः, एकस्मिन् पदार्थे विधिरनुपत्तिरनुभयपदार्थयो
विधिरनुपत्तिः त्रिविधपदार्थेष्वपि विधिभितिः, सर्वत्र विधेयं त्वेष
तान्ययमिति वाक्यान्तरादनुपत्तिः, वाक्यादनुपत्ते एव पदार्थे तान्ययम्
न तु सर्वत्रानुपत्तशब्दार्थोऽत एव उपात्तव्यं शब्दस्यापि तदपि
तु प्रतीयमानम् । अथवा पूर्वा भावति इदमुपात्तपूर्वपदार्थस्य पर
साधकत्वादनुपत्तिरपि परपदार्थे तान्ययं स्यात् । अतः यत्परः शब्दः
स शब्दार्थः इत्यस्यायमेवमभिप्रायः यद् वाक्यान्तरादनुपत्तिः
एकतवाक्योपात्त एव शब्दः, क्रियाकारकात्मकं तस्य स्वाध्याप्यत्वं
विधेयतया मन्यन्त्यः स एव शब्दार्थः प्रकृतिविधेयार्थः । स च
विधेयोऽर्थः क्वचित्क्वचिद्व क्वचिद्विधिविधेयं क्वचित्तुविधिविधेयं इति
अभिधत्वा व्यापार दीर्घदीर्घतरः मन्यन्त्यः । न तु प्रतीयमानांशो-
न्तरावसायपर्यन्तम् । यत्परस्य इषोव्यापसाद्वद्वयं दर्शितं तदपि
न स्यात् । अथवा यदैव एव सायकः शत्रोश्चक्रान्तः क्वचित्प्रतिष्ठा-
प्राणानाहर्हति तथा शब्दोऽपि सकृदेव प्रयुज्यमानः क्वचित्प्रतिष्ठा-

मर्थान्तरप्रतिपत्तिर्न च करोति इति। तत्र पृच्छ्यते ननु यथा शस्त्रस्य स्वाभाविको व्यापारस्तथैवाभिधाया अपि वा भिन्नः। न चाभिधाया स्वाभाविको व्यापारोऽत्रापि तु, उपाधिप्रयुक्तः। सङ्केताहुपाधिं विना भिधा प्रसरत्येव न। अतः विमर्शोऽयं दृष्टान्ताप्यासः।

अतः सिद्धविषयाणां साध्यविषयाणां च शब्दानामुपादानं प्रथमं
नीयायोपदिश्यते, इत्थं कारकाणामपि भव्यत्वं, तच्च भव्यत्वं,
विषयमपीत्यत्रैव दीर्घदीर्घतरत्वमभिधाय युक्तम्।

यच्च विपं भक्षय मा चास्य गृहे भूङ्क्ष्याः इत्यत्र एतद्गृहे न
 क्तव्यम् इत्यनुपात्तस्यापि शब्दस्यार्थे क्वचित् तात्पर्यं दृश्यते
 नोच्यते यदुपात्तशब्दार्थ एव तात्पर्यमिति, तात्पर्येण प्रातिघमनार्थ
 उपशोभते निराचिकीर्णनाह -

अतः विषं भक्षय" इति सूत्रदवाक्यं, अतः स्वायैर्विश्रान्तं सत् विषभक्षणपदि दृष्टमेतदगृहे भोजनमिति लक्षयति। अत एवाख्यातं वाच्ययोः लक्षणं भुङ्क्षन् इत्यन्यथापत्तिप्राप्त्येवङ्गिभावः अन्यथा न अङ्गिभिक्षिभाववैयर्थ्यं नकारस्योपादानम्। अन्यथा कथमाख्यातवाच्ययोः रङ्गाङ्गिभावः सम्पद्येत। "पुणानां न परार्थान्वादसम्बन्धः समत्वात्" इति भावस्य जागरूकत्वात्। नह्यत्र लक्षणां विना प्रधानयोः राख्यातवाच्यवाक्यार्थयोः समयोः सम्बन्धः स्यात्। वाच्ययोराख्यात वाक्ययोः साक्षात् कर्तृकर्मभावविनाज्वयोदुर्घटः न तु लक्ष्यवाच्ययोः। अतः विषंभक्षतस्याख्यातवाक्यस्य कृत्तदवाक्यं लक्षणा, येन विषभक्षणपदि दृष्टमेतदगृहेभोजनमिति लक्ष्यम्। अन्य कृत्तदवाक्यस्य ना "वाच्यगृहगुच्छना" इति भाव्याख्यातवाक्यार्थोऽन्यत्र। एतदेवानु-सन्धायोक्तम् - न चाख्यातवाक्ययोर्द्वयोः रङ्गाङ्गिभाव इति विषभक्षणपदयोः भुङ्क्षन्वाक्यवैयर्थ्यात् कल्पनीयेति। कल्पनीया लक्षणयैति भावः। तदनन्तरं विषं भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्षन् इत्यस्य विषभक्षणपदि दृष्टमेतदगृहे भोजनमिति सूत्रेण सास्य गृहे भुङ्क्षन् इति वाक्यविशिष्टताम्। विपरिणते चास्मिन् वाक्ये उपालब्धशब्दाश्च एव एतदगृहे न भोजनस्थमिति वाच्यस्य न तु अनुपात्ते। अतस्त्वाच्यं न तुल्यभूतमित्युक्तिरसमोचनी।

भावना

अभिधा भावना चान्या तदभोगीकृतमेव च ।
अभिधाधामता याते शब्दार्थलिङ्गकृती ततः ।
भावनाभाव्य एषोऽपि शृङ्गारादिगणो हि यत् ।

तद्भोगीकृतरूपेण व्याप्यते सिद्धिमान्नरः ॥

इत्यादिना स्वनिर्वाण्यस्येति त्रयो वृत्तयो भट्टनायकेन दर्शिताः । अभिधा भावना तद्भोगीकृत्याख्या । तत्र केन भावयति विचारो वृत्तिविचारवाच्यस्येति प्रश्नयमेवाभ्यधीतः ।

तत्र प्रथमं तावत् किन्निष्ठोऽप्य व्यापारः, काव्यशब्दनिष्ठ काव्यार्थनिष्ठ भावकसहृदयनिष्ठोऽथवा एतद्विषयनिष्ठ सामान्यः । तत्र केचित् विशिष्टविभावादिसत्काव्यरसयोर्मन्वयव्यतिरेकभावाभावगमात् रसकाव्ययोर्भाव्यभावकसम्बन्ध इति कृत्वा काव्यशब्दनिष्ठ भावना स्वीक्रियते । अतएव तद्भुजशास्त्रे तादृशयोक्तुभिः कविभिस्तु ते भावा विज्ञेया, ये भावा अभिनयः सम्बन्धान् रसान् भावयन्ति इत्युक्तम् । लोके यथा तथाविधेषामुक्तस्वीयसादृश्यं न्यादाविनाभावदर्शनादिहापिकव्ये तथैवनिबन्धे सति न्यादाविनाभूतनेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादिभिर्वायुविनाभावसंन्यादादिप्रतीतिरिति तथाविधकाव्यशब्दरत्यादिप्रतीत्योरविसाभावसम्बन्धाश्रित्य काव्यशब्देष्वपि रसेन सह भाव्यभावकसम्बन्धो भावनाक्रियावादिभिः स्वीक्रियते । अत एवोक्तं दशरूपके न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः । किं तर्हि, भाव्यभावकसम्बन्धः । काव्यं हि भावकं भाव्या रसादयः । ते हि स्वतः भवन्त एव भावकम् विशिष्टविभावादिसत्ता काव्येन भाव्यते । न चाप्यत्र शब्दान्तरं भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम् । भावनाक्रियावादिभ्यस्तत्पदार्थोक्तत्वाविति । अतः अगृहीतसम्बन्धेष्वपि पठेयं लोके तथाविधदर्शनात् दमोक्तन्यतत्वादि शब्देष्वप्यपि न्यादित्स्यादियप्रतीतिर्भावकणः सम्पद्यते । इयं भावना अभिधेयाविनाभावसम्बन्धेन न्यादिप्रतिपादकत्वात् लाक्षणीको बोद्धुं शक्याः ।

यदा तु काव्यार्थरसयोर्भाव्यभावकसम्बन्धस्तदानीमधीननिष्ठेयं भावना कविभिः रसेन सहृदयानन्दयितुं काव्ये प्रवर्त्यते न तु रसादीनाम् । अतः काव्यार्थोपलब्धितः सहृदयवर्तो न्यादि स्थायीभावो विषयनन्दनसिद्धान्तभाष्यप्रमाणो रसो भवति । अतः रसादे शब्दोपहितरूपवैतन्यमानस्यापि वर्तमानवदवभासनरससादृशिरनुभूयमानं विशावत्वेन रसादेवैतन्यवदवभासनमिष्यते । अवभासनमिष्यन् रसादि केवलं श्रोतव्यत्वाद्यस्यानयोऽपि प्रतिपादको भवति येन परिग्रहस्तद्वद्वतन्यादिविशेषो गृहीतधीरोदात्तव्यवस्थामात्र

प्रतीयते । यथा मूर्मयैर्द्विरदादिभिः क्रीडातां बालानां तदुत्साह एव न स्वदते तथैवाजुनादिभिः श्रोतॄणां स्वोत्साह एवेति । अतोलौकिकस्वीपुरुषादिव्यतिरिक्तविभावादीनां नाट्ये परिग्रहः । विभावादिव्यापि भावनाव्यापारविशेषः स्वीक्रियते । इत्थं काव्यव्यापारविशेषैरेचन्द्रादीरुपनिर्वाच्यते । प्रसदादिप्रभृतिभिरालम्बनविभावे निर्विदादिभिर्व्यभिचारिभिराभावाज्याश्रुधृष्यापाद्यैरनुभावैरवान्तगतव्यापारविभावाऽनुभावनसञ्चारणैर्भावरूपतां नीतः स्थायी भावः स्वदतो । इत्थं सहृदयस्वादायानुकूलस्याधिभावनयने साधारणीकर्तुं विभावादिषु विभावादिव्यापार एव भावनाव्यापारः कैश्चित् स्वीक्रियते । यथोक्तं भट्टनायकेन— विभावादिसाधारणीकरणान्माऽ- भिधातो द्वितीयप्राशनं भावकत्वव्यापारं व्याप्यमात्रं रसादनुभूयमानादिविज्ञातुं शक्यं । भोगेन परं भुज्यत इति । यद्यपि साधारणाकृत-

विभावानामुपस्थितौ भट्टनायकेन भावकत्वव्यापार इति, विभावादीनां सर्वेषां भावरूपतामानीतानां रसास्वादवसरे, भावनिष्ठत्वेन भावकत्व (भावना) व्यापारः स्वीक्रियते, तथा चान्येन मतेन विभावादिवैव विभावादिव्यापारमात्रेण साधारणीकृत्यु साधारणीकृतस्याधिभावानयनमिति पूर्वोक्तमते लभ्यते । यथोक्तं दशरूपके— विभावादिविषयवान्तरकाव्यव्यापारप्रदर्शनपूर्वकः प्रकरणेनोपसंहारः प्रतिपाद्यते ।

पदायैरनुनिर्वेदरोमाज्वादिस्वरूपकैः ।

काव्याद् विभावसञ्चार्यनुभावैषु स्वीक्रियतां गतैः ।

भावितः स्वदते स्थायी, रसः स परिकीर्तितः ॥ इति

विभावसञ्चार्यनुभावेषु अवान्तरकाव्यव्यापारो विभावनसञ्चारणानुभावनेति मन्तव्यम् । उक्तञ्च साहित्यदर्पणे—

व्यापारोऽस्ति विभावादेनामासाधारणीकृतिः ।

प्रसता तदपेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।

साधारण्येन न्यायिरपि तद्वद्वतीयते ।

इत्थं विभावनादिव्यापारश्चेत्, भावकत्वव्यापारस्तथा च भट्टनायकानुसृतो विभावादिसाधारणीकरणान्मा भावकत्वव्यापारः, काव्यार्थनिष्ठ इति काव्यार्थगतोऽप्य स्वीक्रियते । चेत् सहृदयता-सहकृतस्तदानीं सहृदयनिष्ठोऽपि । सहृदयनिष्ठो भावकत्वव्यापार इति पदे व्यापारस्य शब्दार्थनिष्ठत्वेन प्रसिद्धत्वात् । सहृदयनिष्ठत्वे व्यापारत्वान्तरापि किं न कल्प्येत । ननु भावकपदे न केवलं

भाव्यमानः स्यादित्याख्यात्मको भवत्येव । अत्र 'भुज्यते' इति यत्का
निर्देशः, आचार्यो धीर्याचलभाष्ये न तु स्मर्यते, यतोहि उक्तम्
'आस्वादनात्मानुभवो रसः काव्याधी उच्यते' इति । ननु रसोऽपि
अनुभवविषयतयैव गृहीतः न आचार्यमात्रमिति यतोहि-तैरेवोक्तं
'सर्वैरनुभूयया व्यङ्ग्यपरमवितर्कितः' । आस्वादनात्मानुभवो रसः
काव्याधी उच्यते' इति । व्यङ्ग्यत्वेन परमवितर्कविषयत्वेन न
तस्यानुभववितर्कितत्वेनानुभवविषयत्वेन न संगतो विहितो नृपयते
यतोऽपि 'काव्येन भाष्यते रसा' इति विशाखादिजयित
सर्वभाष्यकारादस्वरूपधोपास्ययोगोक्ततापादनमेव रसः' इति निर्दिष्टः ।
अस्तु विशयत्वं व्यङ्ग्यत्वं तु स्वयम् लक्षणं वा सन्त्यम् ।
आस्वादनात्मानुभवो रसः' इत्युक्त्या आस्वादरूपधोपास्ययात्मा
एव रसः, व्यङ्ग्यत्वं तदुक्तं योऽत्र इत्येवविधायः । यतो हि
उक्तम्, अस्या कारिकायाम्नायैर्यैल्लेखनेऽभिप्रेतव्यमस्याम्-तत्र
व्यङ्ग्यमात्रतया व्यङ्ग्यो लभ्यते, अनुभवेन च तदुत्पद्यते' इति
मेतादौम्' इति ।

तेनानुभवो रसः तत्र तद्विषयवर्चस्वमस्तीतिभोगेन भुज्यते'
इत्यर्थमापि साधकस्यात्, भट्टनायकानुसारेण विशदयते
स्मृतिविरिति रसविधितिः । सा मन्दा रसस्यविधितिरिति सूचार्थः ।
अभिन्नवर्गते तु मन्दादेर 'रसना' गृहीता, अतः रसनाया निष्पत्ति
दर्शिता । रसनाविनाभावादभिन्नविधितिरुच्यते इति विवेक उपयो ।
'व्यञ्जना

निर्दिश्यते एतेष्य सर्वेभ्यो व्यापारेभ्यो विलक्षणः काव्यव्यापारो
व्यञ्जनेति आचार्यैर्निर्दिष्टम् । भाष्येन स्वकाव्यलक्षणे 'शब्दाधी महितो
काव्यमिति' निरूप्य व्यञ्जनायाः समुत्पन्नं कृतं, यथासाधनं-
वर्धनावायेन ध्वनिकाव्य निरूपयता, सप्रतया समानुवृत्तिः । बहुभि-
नक्षिप्तकाव्यार्थस्यार्थमपि 'महितो' इत्यस्य यथावस्थितो' इत्यधी
निरूपयते । तत्र ते प्रह्व्याः, साहित्यशास्त्रस्य चिरन्तरेषांनार्येषु
प्रधानतया प्रामाण्येन वा समस्यर्हित आचार्येषाम् 'काव्यलक्षण-
विधाने' कदा प्रयोगितव्यमाचरत् । शब्दाधीवितं इदमेव शब्दाधीयो
साहचर्यस्य समुपस्थितौ पुनः चिन्तयमानेन सतिताव्ययनेन किं
प्रयोगजनम् । एतत्प्रयोगकथ्यपरिहास्य 'महितो' इत्यस्याधी
विचारयितव्यः । हितेन सह वर्तमानौ महितौ इति सादृश्यं सभावे
कृते हितपदाधी व्युत्पत्तयोः । तत्र बाधतो कतप्रत्ययेन विधेयं

हितपदः अस्मिन्निर्दिष्टपदार्थमिति वाच्यम् । चित्तादिप्रत्यय
पूर्वोत्तरपदलोपित्यादिना 'अभि' पदस्यलोपः । मुकुलभट्टनायका
काव्यलक्ष्ययोरुपधार्ययोगेर्ग्रहणं दर्शितम् । चेदु भावे कृतप्रत्ययलोपः
अभिधावलक्षणयोगेर्ग्रहः । उभयोर्ग्रहणं तत्त्वतः 'शब्दाधी' इत्यधीप्रत्य-
यलोपमिति । अतश्चेदेताभ्यामेव सहितौ शब्दाधी तदानीमपि किमाप-
नोक्तम् । अतस्ताभ्या सह वर्तमानः कश्चेनैतदतिरिक्तोऽधी व्यापारोवा
द्गोचरव्यः स नानभिधेयो लोके काव्यात्ताव्यादी सर्वनोपलभ्य
सहृदयसहृदयकाम्यः वक्त्रार्थरूपा वा वक्त्रव्यापाररूपो वा प्राज्ञो भवति ।
तत्र शब्दार्थसमन्वयेन ग्राह्यत्वे काव्यत्वं तदतिरक्तं स्मल्लकाव्यत्वमिति
सहृदम् । अतोऽत्रैवासाधार्येणैव व्यञ्जनस्यानापः कृतः । एतन्ना
वक्रोक्तिर्जीवितकारणस्यैव व्याख्या काव्यलक्षणप्रसङ्गं विहितव
प्रतिभाति । उभाः ।

शब्दाधीमहितौ वक्रकविव्यापारमालोचनं ।

यस्य व्यावृत्तिर्लोकाव्यं तद्विदाहाराकारणम् । इति ।

इति परम्परानुसारेणैवैकान्योऽनन्तरिने ध्वनिरव्यञ्जना वा
काव्ये समुत्तरता विधीयते । अत उक्तं-दाव्याधी काव्यप्रतीयमानाख्यो
पूर्वविद्विधः स्मृतिविषयकोक्तो किन्तु तयोर्भेदे काव्यस्य समु-
त्पत्तिरित्येवमेव न तु द्वितीयस्य अतः अत्र प्रयोऽपि पाठो
प्रतन्यते । यथा

योऽपि सहृदयपुलाय काव्याधेति व्यवस्थितौ ।

काव्यप्रतीयमानाख्यो तस्य भेदावुभौ भवतौ ।

तत्र काव्ये प्रसिद्धे यः प्रकृतिरुपमादिभिः ।

बहुधा व्याकृतः सोऽन्येनतोनोऽपि प्रच्यते । इति ।

इत्थं मूलाविच्छिन्नो यः प्रतीयमानाधीनो व्यापारः स व्यञ्जना
शब्दाधीनधेति समुत्पद्यते ।

अतः व्यञ्जनाया लक्षणमित्येवैकव्यम् -

अभिधावतिरिक्तार्थो वक्त्रकारप्रसूतौ ।

प्रच्यते व्यञ्जनां मुक्तिः शब्दस्यार्थोपेक्षस्य च ।

यन्तु साहित्यदर्पकाय -

'विरतास्वमिधादासु वयायोधी प्रतीयते' इत्युक्ते लज्ज
गणीभूतव्यङ्ग्यमाले अभिधायो तात्पर्योक्त्या वा अतिरक्तत्वेऽपि
व्यञ्जनाया विधितिर्लभ्यते । तद्विषया यः वाक्यार्थो केवलं प्रदाय
एव गृहीतरस्योपि न निस्तारः यतोहि अभिधायासु इत्यस्य

अभिधालक्षणात्तात्पर्याख्याया इति व्याख्यातत्वात्।

ननु विशिष्टवाच्यलक्ष्यार्थयोस्तद्विशेषैकदेशतो गुणाभाव-
रसादीनां विवक्षितार्थानां गम्यत्वे गम्यगमकयोर्वृत्तिरिति, तथा
च स्वार्थविशेषणगुणादिनार्थान्तरमनुस्यूता गुणादिभ्यः पृथग् द्योत्ये
तद्विशेषणसामर्थ्यकल्यार्थं द्योतकस्य या वृत्तिः सा श्रुतिरिति, तथा
न वाच्यलक्ष्यादिबन्धनुषु पदवाक्यार्थमन्वेषे गुणे रसेलङ्कार वा
योऽतिशयः, प्रत्याय्यस्तत्र प्रत्यायकस्य यो व्यापारः स प्रतीतिरिति
व्यपारसाह्याणामर्थानामपि अभिधाह्यार्थानिर्दिष्टार्थत्वे तेज्जनिव्यापिः
व्यञ्जनायाः, यथोक्तम् -

विशिष्टे वाच्यलक्ष्येऽर्थे विशेषणविशेष्ययोः।

यावदर्थं विवृण्वती या वृत्तिरिति रीता।।

वाक्यार्थवयवौभूतपदार्थानि निप्रती क्रमात्।

विवक्षिते द्योतमाना या वृत्तिर्द्युतिरुच्यते।।

अविश्रमेण व्यापारो रसाद्यतिशयावधिः।

प्रत्यायकस्य प्रत्याय्ये प्रतीतिरितिकथ्यते।। इति।

नन्। एतासां सर्वानां वृत्तीनां व्यञ्जनायामेवान्वानर्थावो दर्शितः।

यथोक्ताव्यपकारो -

तदादी वै विशेषाः पावनत्वादयस्ते चाभिधातात्पर्यलक्षणाभ्यो
व्यापारान्वरेण गम्याः। तच्च व्यञ्जनध्वन्योतनानि शब्दव्याव्यम-
वश्यमेवैषितव्यम्। आदिपदेन अञ्जनप्रकाशनप्रत्यायनावगमनबोधन
सूचनानीनां परिग्रह इति टीकाप्राप्। काव्ये अवगमनार्थनमेव
ग्रहणमिति गम्यकीन पक्षः। बोधनस्य सामान्यत्वतया सूचनस्य
नाकाव्यात्मतया नात्र परिग्रह उचितः। एतेन स्पष्टं भवति
यत्प्राचीनैस्तत्तद्विशेषस्थले तत्तद्वृत्तिरपि स्वीकृता तासां सर्वासां
व्यञ्जनया सुग्रहो दर्शितः।

तथाच अनुमित्यर्थान्विततर्जनीतोलनात्मसूचनस्मृतिप्रत्यभिज्ञा-
भिज्ञादादिवृत्तिप्रत्यभिज्ञानत्वेन व्यञ्जनाया स्थितिराचार्यैर्दर्शिता।

व्यञ्जनयमपि अभिधालक्षणाव्यावृत्तिवत् शब्दगता अर्थगता च
भवति। अभिधालक्षणाभ्यामनन्तरं व्यञ्जनोत्थानादभिधामुलां
लक्षणामुला किञ्चात्र स्वात्ममुलात्मतयापि स्वात्माविभावाद
व्यञ्जनामुला नापि भवति। इत्थं अभिधामुला शाब्दी, आर्थी,
लक्षणामुला शाब्दी, आर्थी, तथा च व्यञ्जनामुला शाब्दी आर्थीति
षड्विधा प्रतिपद्यते।

तेषु अभिधामूलशाब्दव्यञ्जना, नानार्थकपदनिष्ठा प्रसिद्धा।
नानार्थके पदमनेकज्येद वाक्यमूलव्यञ्जना, एकज्येत् पदमूल-
व्यञ्जनेति द्विविधा। तत्राद्यं संयोगादिना नानार्थकेनां शब्दानां
प्रकृतवाक्यार्थं नियन्त्रिते यदाऽप्रकृतवाक्यार्थोऽभिधेयस्तदानीमप्रकृत-
वाक्यार्थरूपं वन्मु व्यङ्ग्यं, तच्च केवलं व्यञ्जनागमम्। तथा च
प्रकृताप्रकृतवाक्यार्थयोर्दोषसंज्ञानोपपत्तेरभिधावदिव्यङ्ग्यत्वादीनां
तन्मूलालंकारव्यङ्ग्य इति।

उदाहरणं यथा -

भद्रात्मनो दुर्गमिरोहतेर्विशालवशीन्ततेः कृतशिलामुखमग्रहस्य।
यस्यानुपप्लुतपतेः पञ्चवारणस्य दानाभ्युरोक्तसुभगाः सततं करोऽभूतु।।

अत्र गृहीतसंकेतकस्य मुखमग्रोपभया नानार्थकपदानां सर्वेषां
संकेतितार्थानामुपस्थितौ पञ्चानां संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे
निवारिते, प्रकृतज्ञानमन्वदवाक्यार्थबोधेऽभिहिते पञ्चसम्बन्धवाक्यार्थ-
बोधाद्य संयोगादिना नियन्त्रितशक्तिकदापि स पूर्व सर्वपदार्थो-
पस्थापिकत्वेऽपि इदानीमप्रकृतवाक्यार्थबोधे शिथिला तदनुकूल-
पदार्थानपि नोपस्थापयति। पूर्वोपस्थापितपदार्थानां सन्निधेरभावात्
वाक्यार्थबोधे नाचर्श्वमिति अप्रकृतपदार्थवाक्यार्थयो रक्षयत्र
व्यञ्जनैव। सशोक्तम् 'संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्य-
नेकार्थस्य शब्दस्य यत्कवचिदर्थान्तरप्रतिपादनं तत्र नाभिधाया
नियमनात्तस्याः इति।

यदि अप्रकृतार्थस्यापि कृते अभिधा स्वीक्रियेत तदानीं पुनः
पदानुसंधानरूपरीरवापितर्तुर्वाच्यं। व्यञ्जनाया तु लाघवापत्तिः स्पष्टा।
अत्र वंश शिलामुखपरवारणपदानन्तरशब्दानामनन्तरार्थकत्वम्।

सभङ्गश्लेषेणापि सवस्त्वलंकारध्वनिर्दशयता, यथा-

उल्लास्यकालकरवालमहाम्बुवाहं

देवेन येन जरठोजितगजितेन।

निर्वापितः सकल एव रणे रिपुणां

धाराजलैश्चिजगति ज्वलितः प्रतापः।।

अत्र कालकरवालमहाम्बुवाहमित्यत्र, कालकरं कृष्णकान्तिं,
वालं महाम्बुवाहम्, प्रकृते तु कालकत्वालिति। अत्र तु अनेकार्थकः
शब्दः कोशादिना संकेतितः पूर्ववत् प्रायो न लभ्यते। रणजलयोस्तु
ध्वनिकान्त्यर्थवोरपि सत्त्वे कदाचित् नानार्थकत्वं स्यात्। अन्यथात्वेऽपि
नास्ति काचित् क्षतिः।

क्वचिदभिधामूलशब्दशक्तेरलंकारध्वनिस्तु कोशादिना निर्दिष्ट-
नानार्थकपदाभावेऽपि समस्तपदस्य विश्लेषेण लक्ष्यार्थान्तराभास-
मात्रेणापि दृश्यते। यथा - 'निगमनिगमप्रतापो-विभुर-निशकृद्विधो
मधुरलीलः' इत्यादौ। अत्र निगमो शचिरः प्रतापोयस्य स तथो न
निगमरुचिः अप्रतापः इति स्वयं विश्लेषलभ्यः विरोधाभासः।

क्वचिच्च समासकृतो नानार्थकाभासेऽपि यथा-
'अहितः सहितः साधुयशिरसतामसि'।
अत्र असतामहितः साधुयशोभिः सहितः इति वाक्यार्थानन्तरं
श्रुतमात्रेण यो हितैव रहितः, सद् कथं हितैव रहितः इत्याभासार्थकतो
विरोधाभासो लंकारः।

शुद्धवस्तुध्वनिर्यथा -

पथिक! नात्र सुस्तरमस्ति मनाकृष्टस्तरस्थले ग्रामे।

उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद् वस॥

अत्र प्रकृतार्थे प्रस्तरबहुलग्रामे कदाद्यास्तरणं नास्ति अत्युन्नतं
मेषं प्रेक्ष्य यदि वससि तदुन्नतम् इति तदनन्तरं मुख्यश्राव्यग्रामे
विहितो विहितकार्यबोधकशास्वदितिविचारो नास्ति। अनुपभुक्तमुन्नतं
स्थानं प्रेक्ष्य यदि उपगोश्रव्यमस्ति, तर्हि आस्य इति अप्रकृतार्थ-
बोधाय व्यञ्जनैव स्वीक्रियते।

एतेषु स्थलेषु अभिधामूलवाक्योन्मथव्यञ्जना मन्तव्या।

अभिधामूलपदोन्मथव्यञ्जनामूलवस्तुध्वनिर्यथा -

'शारिणोनिश्च तमुच्चैर्निहतं कुर्यामि नरेन्द्र यस्मै त्वम्।'

अत्र वचनार्थकाशनिपदस्य शनिविरोधार्थकत्वेन 'विरुद्धाविति'
व्यञ्जते। अतो विरुद्धावपित्वदनुवर्तनार्थमेकं कार्यं कुत इति वस्तु
ध्वन्यते।

तादाव्यञ्जनामूलालंकारध्वनिर्यथा -

निरुपादानसंभारमभितावेव तन्वते।

जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाशलाभ्याम् शूलिने॥

अत्राभितावेव चित्रं नानाविधं जगत् तन्वते कलाशलाभ्याम्
शूलिने नमः इति अभिप्रेयार्थपर्यवसानानन्तरं जगद्विचित्रमिति 'कला'
चन्द्रकला इव कला, आलोक्यक्रियाकौतुकमिति, चित्रकलाभ्याम्
पदाभ्याम् मर्षातुलिकाद्युपकरणौघतावालेख्यकृतोभ्यः शूलितं उक्तार्थो
व्यञ्ज्यत इति व्यतिरेकालंकारः।

अभिधामूलशब्दोन्मथव्यञ्जनामूलसध्वनिर्यथा-

'पदैकदेशारिजान्नकलायाश्च। प्रकृति-प्राप्यपरोक्षक-चक्र-
मुरूपव्यत्यय-पुर्वनिर्दिष्टविविक्त-वद्वि तोपमर्षव्याप्योभावादिभ्यः
काव्यप्रकाशे विपुलमुदाहृतम्।

लक्षणांमूलशब्दोन्मथव्यञ्जना यथा-

गङ्गायां घोषः, इत्यादयः, मुखं विकसितस्मितम् इत्यादयश्च
लक्षणाहेतुबाधादेः श्रुतमात्रेण यत्र प्रत्ययो भवति सा
लक्षणांमूलशब्दोन्मथव्यञ्जना। यत्र न वाक्यार्थपरिवाहप्रकारं वक्तुं बोध-
यान्तिवैशिष्ट्याद् मुख्यार्थबाधादिहेतोः प्रत्ययस्यैव लक्षणामूलत्वो-
न्मथव्यञ्जना। यथा- 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इति। वक्तुंबोधव्या-
दिकोक्तुं वाक्यवाक्यान्वयसंनिधिरित्यादि साहाय्येन यत्रार्थान्तराश्रय-
धीस्तत्रार्थो व्यञ्जनेति लक्षितम्। अभिधाहेतुसंकेताश्रयत्वेन

अभिधामूलत्वं, लक्षणाहेतुबाधाद्याश्रयत्वेन लक्षणांमूलत्वम् बाधा-
बाधस्तथागतप्रसिद्धार्थविषयकधीयमाश्रयत्वेन व्यञ्जनामूलत्वमिति
मन्तव्यम्।

पदगतलक्षणांमूलव्यञ्जना- सद्भावत्वेन हेकरणीयसद्वाक्य-
तावद्विरचित् त्वयेति।

लक्षणांमूलावाक्यगतव्यञ्जना यथा- मुखं विकसित-
स्मितमित्यादयः। अनेकपदाश्रयत्वेन कामिनीरूपविभाव्याश्रयत्वेन च
वाक्यगता।

वाक्यार्थगता यथा- यस्य मित्राणि मित्राणि शत्रवः शत्रवस्तथे-
त्यादयः। अत्राश्वस्तत्त्वनिष्पत्तीयत्वाद्योऽर्थः धन्यजन्मजीवनना-
नुकूलत्वेन सन्तीति वाक्यार्थव्यञ्जकत्वम्।

अथवा- 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' इत्यादयः।

अभिधामूलवाक्यार्थव्यञ्जनाया उदाहरणम्, तु वक्तुंबोधव्यादि-
साहाय्येन अर्थशक्यपुद्गलस्य द्वन्द्वशभेदाः काव्यप्रकाशे निर्दिष्टा
मन्तव्याः।

व्यञ्जनामूलशब्दोन्मथव्यञ्जनाया उदाहरणम्- रसानुकूल-
वृत्तयोनप्रासादयश्च।

व्यञ्जनामूलार्थव्यञ्जनाया उदाहरणम्-

'पश्यनिश्चलनिषन्देति पद्मम्।'

'विपरीतरते लक्ष्योद्देशाणामधिकमलस्यमिति।'

इति संक्षेपेणात्र व्यञ्जना दर्शिता, अनुमानसमुत्पादित्यः सर्वथा

धिनैयमिति न क्वाप्यन्तर्भाव इति विवेकः मन्निर्मितचन्द्रालोकटीकाया
भूमिकाया द्रष्टव्यः ।

वृत्तिवार्तिककर्तुरीपत्परिचयः

श्रीमदप्यय्यदीक्षितो मद्रपुरात् पश्चिमदिशि अडयपल्लभिमग्रामे
लब्धजन्मा विश्वजिदध्वर्याजिनो श्रीरङ्गराजाध्वरीन्द्रस्य प्रथितः पुत्र
आसीत् । यथोक्तम्—

विद्वद्रपुरोचरितविश्वजिदध्वर्यस्य श्रीमन्वैतोमुखमहाप्रतयाजिसुनो ।
श्रीरङ्गनाथमखिन श्रितचन्द्रमौलिरापय्यदीक्षित इति प्रथितस्तनुजः ॥

भावतन्त्रमुखमर्दन १०५५

पद्मोनेनास्य पिता श्रीरङ्गराजाध्वरीन्द्रः विदुषां लब्धप्रतिष्ठ
विश्वजिदध्वर्यस्य संपादयिता श्रीरङ्गनाथमखस्यविरलयाजोति प्रतांत
भवति । अस्य माता मङ्गलाम्बेतिनामा आसीत् ।

अस्य कालविषये प्रामुख्येन भावतन्त्रमुखमर्दनभूमिका
सिद्धान्तलेशसंग्रहभूमिका षोडशरात्रितिर्यक्काण्डिकारम्भदीक्षितस्येति
बुद्धपम्पर, शिष्यनौलकण्ठदीक्षितोक्तिश्च निर्णायकत्वेन तिहास-
विदिभर्त्तलब्धये ।

ऐतेषु नौलकण्ठदीक्षितो नौलकण्ठविजये स्वगुरु वन्दमानो
लिखति यद्— 'श्रीमानप्यय्यदीक्षितः य जयति श्रीकांडावरागुरुः'
इति । अत्र जयति पदं लट्प्रकारे प्रयुक्तमिति कदाचित्
श्रीमदप्यय्यदीक्षितस्य वर्तमानत्वमपि तदानीं स्यात् । यद्यपि स पदमपि
प्रयुक्तमस्ति नात्रापि पदं प्रयुक्तम् । 'जयति' पदं, तु 'विद्याक्षेत्रे
सर्वोत्कर्षणं वर्तते' इत्यर्थकत्वे विद्याक्षेत्रे सर्वथा तस्य वर्तमानत्वमेवेति
न कालिकवर्तमानत्वं धर्तुं युज्यते, तथापि वर्तमानत्वमाप्यय्यदीक्षितस्य
स्वीकृत्य नौलकण्ठसम्प्रदायस्य समाप्तिकालः १६३७ तमे ख्रीष्टाब्दे
उपलभ्यते तस्य जन्म समयः द्वासावतित्वषोषिणो ततो नि सार्य १५६५
तमे ख्रीष्टाब्दे भवतुं शक्यते । यथोक्तम्— नौलकण्ठवीजये—

अष्टत्रिंशदुपस्कृतपञ्चशताधिकवत् सहस्रेषु ।

कालिचर्मैषु गतेषु प्रथितः किल नौलकण्ठविजयोऽयम् ॥

तथा च नौलकण्ठदीक्षितेन भ्रातृभ्रात्रेण शिवश्रीकाण्डे—

कालेन सम्भुः किल तावताऽपि कलाश्चतुःषष्टिमिताः प्रणिन्ये ।
द्वासावतित्वषोषिणो शतं व्यधादप्यय्यदीक्षितेन्द्र ॥

मिद्धान्तलेशसंग्रहे— तु—

'यथासि मम सप्ततेरुपरि नैव भागे स्मृता, न किञ्चिदहमर्थये
शिवपदं विदुषे परम्' ।

नृशक्तिः—

'पूर्वमेव नग्मेदिमपतितमस्याव्यस्य सत्विश्वजिदु-
याजो यश्च चिदध्वरे स्वमभजद् ज्यातिः सता पश्यताम् ॥'

इति श्लोका उपलभ्यते ।

द्वितीयादिश्लोकेन श्रीमदप्यय्यदीक्षितो द्वासावतित्वषोष्यन्तम्—
वश्यमेव शरीरभूतेति नास्ति विवादः । तथा च शिवानन्दयोगिपरचिते
अप्यय्यदीक्षितेन्द्रविजये एकः श्लोको लभ्यते येनास्य स्वर्गगतत्वं
स्पष्टं भवति । यद्यपि कदा स स्वर्गतः इति निश्चितः समयोऽत्रापि
न निर्दिष्टस्तथापि कृष्णदेवनूपतेः स्वयानात्पूर्वमेवास्य स्वर्गगतत्वं
निर्दिष्टम् । श्रीकृष्णदेवनूपतिः गतकाले ४६३० तमे दिवं प्रायात् ।
अतस्ततः पूर्वमेव दीक्षितस्य प्रयाणं सूच्यते श्लोकनानेन— यथा—

षट्शतत्रिंशदुत्तंसचतुःसाहस्रकं कलौ ।

स्वर्गतं गुरुमन्वेष्टुमिव रात्रि दिवंगतौ ॥

एतेन स्पष्टमस्ति यत् १५२९ तमख्रीष्टाब्दतः पूर्वमेवाप्यय्यदीक्षित
स्वशरीरवन्धं तत्याज । गतकालः ५१०३ इदानीं चलति । अतः
त्रिसप्तत्युत्तरचतुःशतवर्षेभ्यः पूर्वं श्रीमदप्यय्यदीक्षितस्यान्तिमः कालः
निर्णेतुं शक्यते । स्वर्गं गुरुमन्वेष्टुमिवमेव भग्न गुरुशरीरन्यागः मृत्युर्भव-
यती हि लोके इष्टित्वेव गुरुनिर्गतस्य जन्मयान्त्रेण निर्धार्यते न
तु ब्रह्मः कालात् पूर्वं निःसृतस्य । किन्तु एषश्लोकः
प्रामाणिकतामप्यय्यदीक्षितस्य मृत्यवे न विधर्ततीति प्रतीयते । अतोहि
१६३७ ख्रीष्टाब्दे तस्यस्थितिश्चेत् कथं १५२९ ख्रीष्टाब्दे तस्य
स्वर्गमनं सम्भवत् ।

अत उक्तपूर्वश्लोकेन १५६५ ख्रीष्टाब्दतः पूर्वमेवस्य जन्मकालः
निश्चेतुं शक्यते ।

दर्शनम्

सर्वशास्त्रेषु भास्वतः श्रीमदप्यय्यदीक्षितः शाङ्करादृतिसिद्धान्तमेव

१२. स्फुटग्रन्थाः

१. पञ्चस्वरवृत्तिः २. मतसारार्थसंग्रहः ३. लक्षणरत्नावली-
व्याख्या ४. प्राकृतचन्द्रिका ५. अधिकरणमाला ६. अधिकरणसारावली

१३. स्तोत्रग्रन्थाः

१. कृष्णार्चनप्रदीपः २. दुर्गाचन्द्रकलास्तुतिः ३. तद्विवरणम्
४. आदित्यस्तोत्रम् ५. तद्व्याख्या ६. अर्चनकृत्वाग्बन्धनः ७. रत्न-
त्रयपरीक्षा (हरिश्चन्द्राचार्यः) ८. तद्व्याख्या ९. पञ्चरत्न-
स्तुतिः १०. तद्व्याख्या ११. शिवविष्णुमाला (शिवोत्कर्षप्रतिपादिका)
१२. तद्व्याख्या (शिवतत्त्वविवेकः) १३. ब्रह्मचर्यस्तोत्रम्
१४. तद्विवरणम् १५. शिवकण्ठामृतम् १६. शिवार्चनचन्द्रिका
१७. बालचन्द्रिका १८. तद्व्याख्या १९. श्रीशैवम् २०. गङ्गाधराष्टकम्
२१. भस्मवादावली २२. शिवध्यानप्रदीपः २३. शिवपूजाविधिः
२४. हरिहरस्तुतिः २५. निगूढाष्टकम् २६. आत्मप्राप्तिस्तुतिः
२७. मानसोल्लासः २८. श्रीविष्णुतत्त्वविवरणम् २९. मार्गबन्धुपञ्च-
रत्नम् ३०. नान्तिकमोमासा ३१. अनुग्रहाष्टकम् ३२. शिवमहिम-
कालिकास्तुतिः ३३. अरूणाचलेश्वरस्तुतिः ३४. कृष्ण-
ध्यानप्रदीपव्याख्या ३५. जयोत्तलासनिधिः ३६. मार्गसहायस्तोत्रम्
३७. विष्णुतत्त्वहस्यम् ३८. शान्तिस्तोत्रम् ३९. शिवध्यानप्रदीप-
व्याख्यानम् ४०. शैवकल्पद्रुमः ४१. सिद्धान्तरत्नाकरः ४२.
स्तोत्ररत्नाकरः ४३. मार्गसहायलिङ्गस्तुतिः ४४. भक्तिशतकम् इति ।
वृत्तिवार्तिकोपजीव्यत्वनिर्देशः

वृत्तिवार्तिकस्य कर्ता श्रीमदण्णयरीक्षितोऽनुचान इति सर्वज्ञायते ।
वेदाध्ययनेन सह तद्वृत्तानां व्याकरणन्यायमीमांसासाहित्य-
वेदान्तसांख्ययोग पुराणममादीनामयधौत इत्यत्र नाम्नि संशयलेशः ।
अतः वृत्तिवार्तिकोपजीव्य लघुकायोपि ग्रन्थः साहित्यैतरशास्त्र-
तत्त्वैरपि प्रभावितो लक्ष्यते । नैयायिकानां मतमभिधास्थले निरूपित-
लक्ष्यत एव । यथापि साहित्यशास्त्रम् सर्वशास्त्राणां तत्त्वमाकर्ष्यैव
प्रवर्तमानं भवत्येताः सर्वशास्त्रपरिष्ठाभावहत् साहित्यशास्त्रं स्वसिद्धान्त-
वृत्तिवार्तिकं त्रोटिकरोति । अतः महत्प्रयत्ने वृत्तस्य काव्यसंरचना-
लकारप्रबन्धभिरिति निर्दिश्यते । प्राचीनैर्भाष्यमनादिभिः अलंकार-
रीत्यादिविवेचनपरिवर्तनानां निरूपणमकृत्वाऽन्यशास्त्रस्थवृत्तिस्वरूपमेव
स्वीकरोति इति वक्तुं युक्तम् । आनन्दवर्धनेन ध्वनि व्यवस्थापयताऽ-
प्रधानतया सर्वा अपि वृत्तयः निर्दिष्टाः किन्तु स्वतन्त्रलक्षणानि तासां

तत्रापि न लभ्यन्ते । ध्वन्यर्थं व्यञ्जनावृत्तेः प्राधान्यं दर्शयतानेन यदा
अतिरिक्ता वृत्तिर्दर्शिता तदनन्तरं मुकुलभट्टेन, अभिधायामेव सर्वासां
वृत्तीनां स्मृतिवेशः दर्शयता 'अभिधावृत्तिमात्रा' रचिता । श्रीटीक्ष्णिनेन
तिस्रोऽपि वृत्तयः मङ्गलाचरणप्रसङ्गे समनतयैव हरनन्नाणां
निर्दिष्टास्तथापि व्यञ्जनाया स्वरूपादिकमत्र न लक्षितम् । जयदेवेन
भूषणं प्रभावितोऽयं चन्द्रालोकस्थवृत्तिविचारानुसारं क्वचित्
किञ्चित्त्व्यवधिं वस्तुतोऽन्यत्र प्रकाशितं वस्तु परित्यज्यैव सर्वथा
स्पष्टतयाऽनुक्तं तत्त्वमुद्घाटयितुं प्रवृत्तो लक्ष्यते । यतो ह्युक्तम्
स्वयमेव—

तत्र क्वचिद् क्वचिद् वृद्धैर्विरोपानस्फुटीकृतान् ।
निष्टङ्कयितुमस्माभिः क्रियते वृत्तिवार्तिकम् ॥ इति

विषयाः

शुद्धासारांलक्षणा
साध्यवसानजहल्लक्षणयोरभिन्नत्वम्
उपमानोपमेयगतसाधारणधर्मसादृश्यमुखादीनां—
लक्षणात्वा अपुननत्वम्
मार्गपसाध्यवसानयोः स्मरंतेऽपेक्ष्यैवाभिव्यक्तिरिति—
निरूपणम्
तादृश्यैरूपकम् अपेक्षितंतिजयौक्तिरिति व्यवस्थाया—
निराकरणम्
व्यापारणमञ्जुराम्भ्यव्यञ्जनानिरूपणम्

पृ० संख्या

६२—६५

६५—६९

६९—७५

७५—८०

८०—८३

८३—८६

श्रीमदप्पव्यदीक्षितविरचितम् वृत्तिवार्तिकम्

विश्वं प्रकाशयन्ती व्यापारैर्लक्षणाभिधध्वननैः।
नयनैरिव हरमूर्तिर्विबुधोपास्वा सरस्वती जयति॥
वृत्तयः काव्यसरणावलंकारप्रबन्धभिः।
अभिधा लक्षणा व्यक्तिरिति तिस्रो निरूपिताः॥
तत्र क्वचित्त्वचिद्वृद्धैर्विशोपानस्फुटीकृतान्।
निष्ठकृतियुतमस्माभिः क्रियते वृत्तिवार्तिकम्॥

व्यापारनयनयोर्विभ्वप्रतिबिम्बभावः, विबुधपदेन देवविदुषोरुभयो-
रर्थयोर्ग्रहाद् विबुधोपास्यत्वं शिल्पसाधर्म्यं बोध्यम्।

अस्फुटीकृतान् निगूढान् विशेषानिति निरूपितवृत्तिस्थ-
विशेषपदार्थान्। निष्ठकृतियुतं, स्फोरयितुम् इति।

तीनों नेतों के समान, अभिधालक्षणा एवं व्यञ्जनारूप तीनों व्यापारों
से समग्र रूपे विषय को प्रकाशित करने वाली विबुधों के समान देवता हरमूर्ति
के समान सरस्वती सर्वोत्कृष्ट है।

काव्यमार्ग में अलंकारशास्त्र के प्रणेताओं ने अभिधालक्षणा एवं
व्यञ्जना नामक तीन वृत्तियों का निरूपण किया है।

उनमें विधावृद्धों उस विधानों से जो स्पष्ट रूप में व्याख्यात नहीं
किया गया है उसे केवल स्फुट रूप से प्रकाशित करने के लिए मैंने
वृत्तिवार्तिक की रचना प्रारम्भ की है।

तत्र —

शक्त्या प्रतिपादकत्वमभिधा।

सा त्रिधा— रुढिवर्गो योगरूढिश्च। {तत्र—}

अखण्डशक्तिमात्रेणैकार्यप्रतिपादकत्वं रुढिः।

तन्मात्रेण प्रतिपादकत्वं च—अवयवार्थाप्रतिभासाद्वा,

तत्प्रतिभासेऽपि तस्य प्रतिपाद्ये बाधाद्वा। यथा—

‘यत्ते पदाम्बुरुहमम्बुरुहोऽसनेऽयं’

धन्याः प्रपद्य सक्दीश भवन्ति मुक्ताः।

नित्यं तदेव भजतामतिमुक्तलक्ष्मी-
र्युक्तैव देव मणिनूपुरमौक्तिकानाम्॥'

अत्र 'मणिनूपुर' दिशब्दानां नावयवार्थप्रतिभासः, अतिमुक्त-
शब्दस्यावयवार्थप्रतिभासेऽपि वासन्तीलक्षणे प्रतिपादो तस्य
बाध इत्येषां रूढिः। यद्यपि 'अतिमुक्तलक्ष्मीर्वासन्तीमुकुलशोभैव
मुक्तातिशायिनी संपद' इत्यभेदाध्यवसायार्थमित्युक्तशब्दस्या-
वयवार्थेऽपि विवक्षितः, तथापि तस्य वासन्तीगतत्वेना-
प्रतिपादानात्तत्र रूढिरेव। एतदव्याप्तिवारणेनैव लक्षणेऽप्येक-
पदमर्थवत्।

शक्त्या - शक्तिग्रहेण, संकेतेनेति। प्रतिपादकत्वं, अर्थ
निरूपितप्रतिपादकनिरूपितप्रतिपादकत्वसंभिधेति।

एकार्थप्रतिपादकत्वं = उभयार्थप्रतिपादकत्वेऽपि अखण्डशक्ति
ग्रहेणैव योगार्थस्यावयवार्थस्यान्वयानुकाङ्क्षत्वात् रूढिमात्रसंभिधेति भावः।
अत्र यौगिकरूढिर्न वृत्तौ अभिधा संप्रतिपादकत्वात् इत्युक्तमर्थमिति भावः।
अवयवार्थप्रतिभासात् यथा (मणिनूपुरमौक्तिकानाम्) मणिः नूपुर
मौक्तिकानाम्।

मणिश्चित्रावयवतया नूपुर इत्यत्रायोगः, मौक्तिक इत्यत्र
यौगिकभासः। मौक्तिकमिति मुक्तामणिः। मुक्तानां समूह इत्यस्य
प्रतिभाससंप्रतिपादकत्वं। न चात्र समूहोऽर्थो विवक्षितः, अन्यथा
वृत्तवचनयोः प्रतिपादनवैयर्थ्यं स्यात्। इत्थं सर्ववयवार्थस्य प्रतिभासो
नास्ति। प्रतिभास इत्यस्यैकत्रैव पदे विवक्षितत्वेनार्थस्य बोधो ग्राह्यः।
तद्विप्रतिभासेऽपि तस्य प्रतिपादो बाधान् यथा मणिनूपुर-
मौक्तिकानामतिमुक्तलक्ष्मीर्युक्तैवेत्यत्र, अतिमुक्तलक्ष्मीरित्यस्य
वासन्तीमुकुलशोभार्थस्य रूढिर्मुक्तानिर्गम्य जायमानालक्ष्मीरिति,
मुक्तातिशायिनीनामप्यतिव्यर्थं अवयवार्थः। वाक्यार्थबोधे यद्यपि उपर्यो
रुक्तवयवार्थयोरेकभेदाध्यवसायं विना विवक्षितार्थोपनिर्णयः न संभवति
तथापि वासन्तीमुकुलशोभार्थं अवयवार्थस्यान्वयो न विवक्षितः अतः
प्रतिपादो रूढयर्थे तदर्थस्य बाधान् रूढिरेव।

हे ईश! ब्रह्मसन्त्य तव यत् पङ्कजमलं सकृत् प्रपद्य धन्या
मानवा मुक्ता भवन्ति। तदेव नित्यं भजता मौक्तिकानां मुक्तात्मा-

तिशायिनीसम्पद यद् दृश्यते तद् युक्तैव। तथा च मुक्तामणानां
वासन्तीमुकुलशोभा यद् दृश्यते तद् युक्तैवेति।

मणिनूपुरादिति आदिपदेन मौक्तिकस्यापिग्रहणम्। अतिक्रान्तो
मुक्तानिति अतिमुक्तोऽवयवार्थः। अभेदाध्यवसायार्थमिति
एकपदोपात्तोभयोरर्थयोरभेदाध्यवसाय इति। अभेदाध्यवसायं विना
मौक्तिकानां मुक्तात्मनोऽतिक्रान्तात्मारूपो विवक्षितार्थो न संभवतीति
अवयवार्थेऽपि विवक्षितः। किन्तुस्यावयवार्थस्यातिमुक्तप्रतिपाद्य-
वासन्तीलतारूपार्थगतत्वेन नास्तिप्रतिपाद्यत्वम् अतः रूढिरेव।
अव्याप्तिरिति- यौगिकरूढस्थलेऽपि क्वचिद्रूढयर्थः क्वचिद् योगार्थः
इति यथाविवक्षितं ग्राह्यम्। अतः केवलरूढ्यभिधायः केवलयोगा-
भिधायो लक्षणसङ्घातिरस्त्येव नास्त्यव्याप्तिः। अत एकार्थप्रतिपादक-
त्वमित्युक्तम्।

मूल - तत्र लक्षणेऽप्येकपदमर्थवत्। इति।

इन वृत्तियों में अभिधा उसे कहते हैं जो शक्तिग्रहण संकेत से
अर्थ का प्रतिपादन करती हो। वह तीन प्रकार की है (१) रूढि, (२) योग
तथा (३) योगरूढि।

इनमें अखण्ड (अवयवनिर्पेक्ष) शक्तिग्रह से एकार्थमात्र की
प्रतिपादिका रूढि कहो जाती। यहाँ अखण्डशक्ति मात्र का अर्थ यह है
कि रूढ पद में अवयवार्थ का प्रतिभास ही न होता हो अथवा यदि
प्रतिभास होता भी हो तो उस पद से प्रतिपाद्य उस रूढयर्थ में अवयवार्थ
का बाध होता हो। दोनों का उदाहरण जैसे - यत्ने इति।

'हे ईश! जिस, ब्रह्म से स्तुत्य, आपके चरण कमल को एक बार
भी प्राप्त कर धन्य मानव मुक्त हो जाते हैं उसी चरणकमल की निरन्तर
युक्त होकर सेवा करने वाले मणिनूपुर के मौक्तिकों की शोभा, या
सम्पत्ति उन मुक्तात्माओं की अतिक्रान्त करके यदि विराजित होती हो,
तो वह उचित ही है, इसमें आश्चर्य नहीं। क्योंकि वे मौक्तिक,
अतिमुक्तलक्ष्मीक हैं ही। अतिमुक्त का रूढयर्थ वासन्तीलता है। तथा
वासन्ती के कूडमल की शोभा के समान शोभा वाले नूपुरमौक्तिक होते
भी हैं।

यहाँ पर अभ्यर्थी निश्चित है तीनों रूढि स्थलों का उदाहरण दिया है।
ये रूढस्थल, अव्यक्तयोग, अयोग तथा योगभास भेद से तीन प्रकार के
होते हैं। मणिनूपुरमौक्तिकानाम् में तीनों क्रम से 'मणि' अव्यक्तयोग का
'नूपुर' अयोग का तथा 'मौक्तिक' योगभास का उदाहरण है। इसे सुद्धो
से दिखलाया है। किन्तु एक जोषा भेद भी रूढि का होता है जिसे प्राचीनों

ये नहीं दिखता। यह है 'अतिमुक्तलक्ष्मी' पद। अतिमुक्त का अर्थ विमन्तीलता तथा 'मुक्तात्माओं को आते जानते करने वाला' हो अर्थ है। दूसरा अर्थ शब्दयोग है फिर एक पद से प्राप्त होने वाले दोनों पदार्थ अभिन्न होते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार दोनों शब्द तथा योगार्थ का अभेदभावसाध भी विवक्षित है फिर भी इसे द्वितीय कृति ही मानना चाहिए। योगशब्द नहीं क्योंकि योग शब्द में दोनों अर्थ पहले अपने में अन्वित होकर एक पदार्थ रूप में वाक्यार्थ में अन्वित होते हैं यहाँ लब्धार्थ अलग रूप में अन्वित होता है तथा योगार्थ बाधित होने से वाक्यार्थ में योग अन्वित होने के कारण लब्धभाववृत्ति को सहायता से अभेद-व्यवसान का बोध कराता है अतिमुक्तलक्ष्मी से मुक्तात्माओं को अतिव्रतन कर उपस्थित सम्पत्ति यह अर्थ व्युत्पन्न होता है। इस प्रकार वासन्ती कथार्थ में कोई बाधा नहीं है, अतः लिखते हैं कि 'तत्प्रतिभासेऽपि तस्य प्रतिपारा बध्नात् वा' इति।

यहाँ योग नुर आदि शब्दों में अवयवार्थ का प्रतिभास हो नहीं है। अतिमुक्तशब्द का अवयवार्थ प्रतिभासित होकर भी वाक्यार्थ में अन्विता होने वाले वासन्ती रूप प्रतिपारा अर्थ में अन्वित नहीं हो पा रहा है क्योंकि यणिमुक्ता और मुक्ताभावसंभूत रूप दो अर्थ मौक्तिक के प्रतीत होने पर भी नुरमौक्तिक केवल वासन्तीमुक्तलक्ष्मी को ही प्रतीत कर सकता है, मुक्तात्माओं से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। अतः कहते हैं कि 'तस्य बाध इत्येषा कति' यद्यपि वासन्तीमुक्तलक्ष्मी तथा 'मुक्तात्मानिशायिनोऽसमात् ये दोनों अर्थ अभिन्नतया प्रतीत हो इसलिए ही 'अतिमुक्तलक्ष्मी' पद का प्रयोग किया गया है इसलिए अवयवार्थ भी यहाँ विवक्षित है फिर भी वासन्तीमुक्तार्थ के प्रतिपादन में इसका कुछ भी किंसा देना नहीं है अतः वासन्ती अर्थ में यह शब्द ही है।

अवयवशक्तिमात्रसापेक्षं पदस्यैकार्थप्रतिपादकत्वं योगः।

यथा -

'ऊर्ध्वं विरिञ्चिभवनात्तव नाभिपद्म-

द्रोमावलीपदनुष्ठमसः परस्तात्।

मुक्तौषमण्डितमुरःस्थलमुन्मयूखं

पश्यामि देव परमं पदमेव साक्षात्॥'

अत्र 'विरिञ्चिभवन-नाभिपद्म-रोमावली' त्यादिशब्दानां योगः। अवयवशक्तिमात्रेण प्रतिपादकत्वमपि-समुदायार्था-प्रतिभासाद्वा, तत्प्रतिभासेऽपि तस्यावयवशक्ति-प्रतिपादोऽपि-

न्याद्वेति द्वेधा। तत्राद्यमुदाहृतम्। द्वितीयं यथा-

'अस्तु त्रयीमयतनुस्तव लम्बनाली-

रत्नैस्तथापि परिभूयत एव भानुः।

सोढः सतां वत निशान्तमुपागताना-

मेवं तिरस्कृतिकृद्विश्वर कः सुवृत्तैः॥'

अत्र 'निशान्त' शब्दस्य निकेतनरूपसमुदायार्थप्रतिभासेऽपि 'निशान्तं त्रियामावसानमुपागतानां सतां नक्षत्राणां तिरस्कृति-कृदन्तर्हितकृत्, एवं गृहं प्राप्तानां सत्पुरुषाणां पराभवकृत्' इत्यभेदाध्यवसायार्थं तस्य विवक्षितत्वेऽपि त्रियामावसाने योग एव।

अवयवशक्तिरिति। प्रकृतिप्रत्ययाद्यवयवशक्तिमात्रसापेक्षमैकार्थं मात्रप्रतिपादकत्वमभिधा। पदस्य = नेयं वाक्यस्य नच पदेकदेशस्येति। योगस्योदाहरणम् - यथा ऊर्ध्वमिति।

विरञ्जे रजोगुणवत्त्वाद् रजस ऊर्ध्वं, तथा च रोमावल्याः कृष्णवर्णत्वात् तमसः परस्तात्, यदुन्मयूखमुरःस्थलं तनु नाभमेकाग्र-मुक्तजनीधमण्डितमिति। अतः सत्पुरुषाणां सत्पुरुषाणां पराभवकृत् पश्यामि। इतिभावः।

अत्र भगवतो नाभिपद्मे विरिञ्चिनिवासाद् विरिञ्चिभवन नाभिपद्मयो नास्ति पङ्कजवदेकार्थेऽन्वयः। अतः विरिञ्चेर्भवनं, नाभे-पद्मं रोमाणां वलीरिति समासस्यान्तावयवस्यैव केवलं प्रतिभासः न तु कस्यचित्समुदायार्थस्य। क्वचित्समुदायार्थस्य प्रतिभासेऽपि पूर्ववदवयवशक्तिप्रतिपादोऽनन्यथा नास्ति योगाभिधान्वीकारे क्षतिः।

यथा = अस्तु त्रयीमयतनुः।

हे ईश्वर ! यद्यपि वेदत्रयाग्नित्रयदेवत्रयेति कृत्वा त्रयीमयतनुः, भानुः स्यात्, तथापि तव ललितकालोरत्नैः स परिभूतो भवत्येव। प्रियेयं कण्ठभूषणं लम्बनं स्यात्ललितकण्ठं इत्यमरः। यतोहि निशान्तमुपागतानां भवन्नागतानां प्रातरगतानां वा, 'निशान्तं वक्ष्य-सदनं' इत्यमरः। सतां सज्जनानां नक्षत्राणां वा तिरस्कारकं कः एतादृश अस्ति, यः सुवृत्तैः सदाचारिभिः साधुभिः, वर्तुलाकारैः, सोढव्यो भवति। रत्नमपि सुवृत्तम्, साधवोऽपि सुवृत्ता इति।

निशान्तशब्दः सदनार्थकः, त्रियामावसानार्थकश्च। सदनरूपार्थः समुदायार्थः। अपरस्मृ यो गार्थः, उभयोरर्थयोरेभेदावसायार्थं विवक्षितत्वमस्ति तथोप त्रियामावसानं योग एव। तस्य समुदायार्थे-
न्वयानवभासात्। तत्रान्वये सत्येव योगादृष्टिर्लीयसीति न्यायस्य प्रवृत्तिः भवति नान्यत्र।

योगरूप अभिधा उसे कहते हैं जो प्रकृतिप्रत्ययसमादिशक्ति मात्र से किसी पद का एकार्थ प्रतिपादन करती हो।

यह भी दो प्रकार की होती है पहली तो वह है जहाँ समुदायरूप अर्थ का प्रतिभास नहीं होता, दूसरी वह है जहाँ समुदायार्थ का तो प्रतिभास होता है किन्तु अवयवशक्ति मात्र से प्रतिपाद्य अर्थ में उसका अन्वय नहीं होता है। उनमें पहले का उदाहरण जैसे —

हे देव ! मैं आप के उस वक्षःस्थल को साक्षात् परमपद ही समझता हूँ जो विरजि के आलस रूप नाभिकमल से ऊपर है तथा योगावली स्थान रूप तमोगुण से परमात्मा है। यूनानैव (मुक्तायोगिण) एव मुक्ताव्याकरण। से यथिहृत है तथा परमभास्वर है। अर्थात् विष्णुपद (मोक्षस्थान) रजोगुण, तमोगुण से परे साक्षात् सत्त्वरूप परमभास्वर है।

यहाँ 'विरजि का भवन' केवल यही अर्थ विवक्षित है विरजि का भवन, नाभिकमल नहीं। क्योंकि 'नाभिपदम्' शब्दतः कहा ही गया है। अतः केवल योगरूप अभिधा विरजिभवन में है। ऐसे ही नाभिपदम् भी केवल योग है क्योंकि विरजिभवन उसका अर्थ नहीं कर सकते क्योंकि इसका भी शब्दतः उपादान है। योगावली में स्पष्टतः योग है तो इन स्थलों से अवयवशक्तिमात्र को प्रतिपादकता है तथा समुदायार्थ का प्रतिभास नहीं है।

दूसरा उदाहरण जिसमें समुदायार्थ का प्रतिभास होता है रूप भी शब्द योग ही होता है जैसे — अस्तु इति।

यद्यपि त्रियामावसान (व्यापारिणी या) सूर्य मना जाता है फिर भी वह, आप के सुवृत्त, वर्तुलाकार, कण्डमालारूपललितका के रत्नों से परिभूत ही किया जाता है क्योंकि हे ईश्वर ! निशा के अन्त में प्रातः गृह आये हुए (सत्यरूप) सहन कर सकता है। निशान्त अर्थात् गृह में आये हुए किसी सत्यरूप के तिरस्कार को जैसे कोई सदाचारि नहीं सहन कर सकता वैसे ही आपको लम्बनालीरूप नहीं सहन कर रहे हैं।

यद्यपि एषा निशान्तशब्द का गृहरूप समुदायार्थ का प्रतिभास हो रहा है किन्तु प्रकृत सूर्यारूप वाक्यार्थ में निशा का अवसान ही विवक्षित है अतः त्रियामा अवसान में केवल योग है। जब कि

'निशान्तमुपागतानां सतां तिरस्कृतिकृत्' इसके दो अर्थ, निशा के अन्त में प्रातः नक्षत्रों का तिरस्कृति, तथा गृह में प्रातः सज्जनों का तिरस्कृति होते हैं तथा दोनों का अध्यवसायार्थ (अभिन्नार्थत्व) विवक्षित भी है तिर श्री निशावसान रूपार्थ में केवल योग ही है।

अवयवसमुदायोभयशक्तिसापेक्षमेकार्थप्रतिपादकत्वं योगरूढिः।

‘पक्षद्वयेकृशिमपोषविभाव्यमान—

चान्द्रायणव्रतनिषेवण एव नित्यम्।

कुर्वन्प्रदक्षिणमुपेन्द्र सुरालयं ते

लिप्सुर्मुखाब्जरुचिमेष तपस्यतीन्दुः॥’

अत्र ‘सुरालय’ शब्दस्य ‘सुराणाम् आलयः’ इत्यवयव-
शक्त्या समुदायशक्त्या च कनकाचले योगरूढिः। न च
अस्य शब्दस्य कनकाचले रूढित्वे केवलास्तु, मा भूहोपरूढिः,
उदाहृतश्लोके तपश्चर्यात्वेक्षायाः प्रदक्षिणी- क्रियमाणस्य
कनकाचलस्यावयवशक्त्युपस्थाप्यदेवालाभेदाध्यवसायेनापि
निर्वाहात् इति बाध्यम्। तत्रैवावयवार्थसंभवेऽन्याभेदा-
ध्यवसायरूपपरमुखनिरीक्षणायोगात्। तत्रैव योगिकार्थप्रतिभासस्य
सर्वसाक्षिकत्वाच्च। न च एवं सति देवागारसाधारण-
कल्पनावयवशक्तिमात्रेण कनकाचलेऽपि प्रवृत्त्युपपत्तेर्न तत्र
समुदायशक्तिः कल्पनीया इत्यपि शङ्क्यम्। ‘रत्नसानुः
सुरालयः’ इत्याद्यभिधानकोशस्मृतिपरम्परया विशिष्य तस्य
तत्र समुदायशक्तेरपि सिद्धेः। अन्यथा देवतागार इव तत्र
विशिष्यानुशासनानपेक्षणे तद्वैयर्थ्यप्रतिः।

अवयवसमुदायोभयान्वितशक्तिसापेक्षमिति योगरूढिः।

यथा — पक्षद्वयमिति.....।

हे उपेन्द्र ! ते मुखाब्जरुचिं मुखचन्द्रश्च लिप्सुः, कृष्णशुक्ल-
पक्षद्वये पर्यायक्रमेण क्षयपोषध्यां विभाव्यमानस्य चान्द्रायणव्रतस्य
व्रती एष इन्दुः सुरालयं प्रदक्षिणं कुर्वन् तपस्यति।

अत्र सुरालयमिति योगरूढिः। सुराणां देवानां आलय इति योगः।
रत्नसानुः। रत्नसानुः सुरालय इत्यमरः रत्नसानाविव रूढिः। अतः

पङ्कनवत् एकार्थप्रतिपादकत्वात् सुरालयस्य योगरूढः। शब्देऽत्र न केवलं रहितं न केवलं योगः, एकपदाश्रयत्वे रुढवैलंब्यस्त्वम् निर्दिष्टम्। योगार्थस्यान्यद्वयान् केवलं रहति। नियोगोन्तेरेव रहितत्वात्।

तनु वशा अतिमुक्तलक्ष्मीन्वादावयवशक्त्युपस्थाप्यमुक्ततात्-
शास्त्रिणां पदादिभेदादभेदावयवशक्त्या भववशक्तेः सन्त्येति रुढरुद्राणां
तथैवात्रापि अवयवशक्त्युपस्थाप्यदेवालयभेदावयवशक्त्या भवेनापि
सुरालयैवत्यस्य कनकाचले रहित्वनिबोधः इति वक्तव्यम्। एकस्मिन्ने-
वार्थेऽवयवार्थं सम्भवे स्वेतगर्भेदावयवशक्त्या भवत्यायोगात्। एकत्रैव
रूढ्यर्थ एव योगिकार्यान्वयस्य सर्वसाक्षिकत्वाद् योगरूढः।

न चैवमिति - यथा विरज्ज्वभवनादिस्थले ब्रह्माश्रयसाधारण-
क्लृप्तावयवशक्तिमात्रेण न समुदायशक्तिर्नाभिकमलालौ कल्प्यते
तथा च केवलं योगाभिधाश्रयते तथैवात्रापि देवागारसाधारणा
दिकल्पाऽवयवशक्तिः कल्पयितुं शक्यते। यतोहि रत्नसागुः सुरालय
इति कोशास्मृतेः समुदायशक्तेरपि सिद्धत्वाद् अन्यथा
विशिष्टानुशासनानपेक्षेण देवतागारप्रयोगः स्यात् सुरालयपदप्रयोगस्य
तत्सापेक्षस्य वैयर्थ्यापत्तिश्च।

अवयव तथा समुदाय दोनों शक्तियों के सम्पक्ष, यदि एकार्थ की
प्रतिपादकता हो तो योगरूढि अभिधा होती है। जैसे - गणद्वय इति
है उपेन्द्र। आगे के मुखचन्द्र की कान्ति को प्राप्त करने की इच्छा से
वांछायापवती चन्द्र तित्प सुरालय (सुमेरु तथा देवालय) की प्रदक्षिणा
करता हुआ तपस्या कर रहा है। चन्द्र का वांछायागणत्र कक्षापक्ष में
क्रमशः क्षीणत्व से, तथा शुक्ल पक्ष में क्रमशः वृद्धत्व से स्पष्ट प्रतीत है।
यहाँ सुरालयशब्द, देवताओं का आलय' रूप योगार्थ तथा
'सुमेरुपर्वत' रूप समुदायार्थ दोनों अर्थों से सम्बन्धित होकर 'सुमेरु' रूपकार्थ
में विश्रान्त हो रहा है अतः यहाँ योगरूढि है।

यदि यह कहे कि योगादिवैलंब्यम् इस न्याय से सुरालयशब्द का
कनकाचल अर्थ में केवल रहति हो क्यों न मान ली जाये। योगरूढि हो
क्यों मानी जाय ? क्यों कि यहाँ पर भी 'अतिमुक्त' शब्द की भाँति एक
पद से होने वाले दोनों अर्थों में अभेदावयवशक्त्या से ही चन्द्र से उत्प्रेक्षित
तपश्चर्या हेतु, कनकाचल के प्रदक्षिणाकरण में, अवयवशक्ति से होने
वाला देवालय रूपार्थ भी गृहीत हो ही जायेगा, तो ऐसा नहीं कह सकते।
क्योंकि 'सुमेरु' में ही देवालय रूप अर्थ का भी अवयव होने से, अपने
से भिन्न किसी अन्यार्थ के साथ होने वाले अवयवशक्त्युपस्थाप्य लक्षण यहाँ

वहित नहीं हो सकता। अवयवशक्त्या से अनन्वित ही दोनों अर्थ होने के
अतः कहते हैं कि 'अन्याभेदाऽवयवशक्त्युपस्थाप्यरूपपरमुखनिरीक्षणयोगात्' इति।

यदि यह कहे कि यहाँ 'सुमेरु' रूपार्थ में वस्तुतः समुदायशक्ति न
मानकर, कल्पना से समुदायशक्त्यर्थ 'सुमेरु' का ग्रहण किया जा सकता
है क्योंकि सुरालय से अवयवशक्ति द्वारा प्राप्त देवालय रूपार्थ से ही
'सुमेरु' रूपार्थ गृहीत हो ही सकता है, तो यह भी नहीं कह सकते।
क्योंकि सुरालय का सुमेरु या रत्नसागु अर्थ कोश से सिद्ध है अतः
कल्पना या आक्षेप यहाँ सम्भव नहीं है। यदि ऐसा नहीं होता तो
'सुरालय' के स्थान पर 'देवतागार' का भी प्रयोग हो सकता था। किन्तु
'देवतागार' रूप विशेषवाचकशब्द 'सुमेरु' अर्थ में, कोश से अनुशासित
नहीं है, अतः 'सुरालय' रूप विशेषपद में यदि 'देवागार' को आपानुशासन
की अपेक्षा करते हैं तो सुरालय पदप्रयोग की व्यर्थता होगी। अतः यहाँ
योगरूढि ही माना जाना चाहिए।

अत एवैतादृशपदे सति पुनः समुदायार्थवाचकपदप्रयोगे
पुनरुक्तदोषोल्लासः। यथा—

'भद्राय भवतु भवतां भगवाभजमानदैत्यतिमिररविः।

दिवसारम्भविकस्वरनोजनलनिभिरामतरनयनः॥'

यत्र योगरूढिमतेऽपि पदस्यावयवार्थशक्तिमूलप्रतीयमानार्थ-
गर्भीकरणे तत्रैव विश्रान्तिः, तत्र समुदायार्थवाचकपदान्तर-
प्रयोगेऽपि न पुनरुक्तदोषोल्लासः। यथा—

'उद्यन्मृगाङ्कुरचिक-दलकोमलाना-

मुनिद्रशोणनलिनोदरसोदराणाम्।

प्राप्तुं तवाधररुद्रावमलोकनेन

नाल सहस्रनयनः स वृषापि तृप्तिम्॥'

अत्र 'सहस्रनयन' शब्दस्यावयवार्थशक्त्यावलोकनप्रकर्ष-
संभवप्रतीतेस्तत्रैव विश्रान्तिरिति पुनरिन्द्रवाचिपदप्रयोगः। यथा
वा -

'तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।

कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणैर्वैच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये॥'

अत्र 'पिनाकपाणि' शब्दस्य शिवनाम्नोऽवयवार्थशक्त्या
तदायुधसारत्वप्रतीतेस्तत्रैव तस्य विश्रान्तिरिति पुनः 'हर'-

पदप्रयोगः। ननु- 'कुसुमायुधोऽपि' इत्यत्रावयवार्थशक्त्या तदायु-
धासारत्वप्रतीतावपि कामवाचिपदान्तरं नोपात्तम् इति चेत्, न।
तत्राप्युत्तमपुरुषाक्षिपाहंपदस्य विशेष्यवाचिनः सत्त्वादिति
साहित्यचिन्तामणिकारः। वस्तुतस्तु - नायं नियमः, यत्
'अवयवार्थशक्तिमूलप्रतीयमानार्थविवक्षायां समुदायार्थवाचि-
पदान्तरं प्रयोक्तव्यम्' इति, कित्वयमपि प्रकारोऽस्तीत्युदाहृतम्।
तदप्रयोगे यथा -

‘मन्ये निजस्खलनदोषमवर्जनीय-
मन्यस्य मूर्ध्नि विनिवेश्य बहिर्बुभूषुः।
आविश्य देव रसनानि महाकवीनां
देवी गिरामपि तव स्तवमातनोति॥’

अत्र 'वागीश्वरीपदादवयवार्थशक्त्या प्रतीयमानस्य विद्या-
विषये स्वालित्यापवादमितरवत्स्वस्वती न सहते' इत्यर्थस्य
वाच्यस्योपस्कारकतया विवक्षितत्वेऽपि 'वाचामधिदेवतापि यत्र
भगवतः स्तोत्रे न पर्याप्तं सामर्थ्यं विभर्ति, तत्र कथमन्येऽ-
धिकुर्युः' इत्यर्थापत्यलंकारध्वननसत्त्वेऽपि न पृथक्सरस्वती-
वाचकपदप्रयोगः। एकावलीकृतापि विशेष्यस्य साभिप्रायत्वं
परिकरालंकारलक्षणमभिधाय, -

‘नरसिंह महीपाल कीर्तिस्त्रिपथगा तव।

न कस्य भवति श्लाघ्या पुनाना भुवनत्रयम्॥’

इति तदुदाहरणे भुवनत्रयपवित्रीकरणोपपत्त्यभिप्रायार्थं
त्रिपथगापदं विशेष्यमेव प्रयुञ्जानेन तत्प्रयोगानियमो दर्शितः।
तस्मात् योगरूढमतः पदस्य योगिकार्थशक्तिमूल-
प्रतीयमानार्थ-गर्भाकारेण समुदायार्थवाचिपदप्रयोगाप्रयोगाभ्यां
द्विविध्यमेवादृतम्, न पुनस्तत्प्रयोगनियमः।

अतएवेति अतः एतादृशयोगरूढस्थले रूढपदप्रयोगो
पुनरुक्तिदोषोऽस्तीति स्पष्टाव्यते। यथा - भद्रयेति।

भजमादृत्य सेवकदैन्यरूपाङ्ककाराद्यं स्वरूपं, तथा च
दिवससाम्भ प्रातः विकासोद्युक्तजलजातनीलकमलवत्

मनोहरनेत्रो भगवान् भवतां कल्याणास्य भवतु।

अत्र नीरजनलिनैत्यत्र योगरूढमतो नीरजशब्दस्य सत्त्वेऽपि
केवलावयवार्थजलजातत्वरूपप्रतीयमानार्थस्य गर्भाकारेण केवलम-
वयवार्थ एव विश्रान्तिः, अतः समुदायार्थवाचकनरलिन पदप्रयोगेऽपि
न पुनरुक्तत्वदोषोल्लासः। यथा च

उद्यन्मृगाङ्गम् इति।

उद्यानिति समुदायस्त्वनन्दकान्तकन्दलमनोहरणां

उन्निद्रेति चिकीर्षितरक्तकनकलोदग्रसदृशानां तेषु अभ्यग्यां,
अधरोष्ठकान्तीनां दर्शनेन सहस्रलोचन इन्द्रोऽपि तृप्तिं प्राप्तुं न
प्रबभूव, किमुतान्यः।

अत्रावलीकनप्रकर्षसंभवप्रतीतेरवयवार्थमात्रार्थत्वं, सहस्रनयनस्य
विश्रान्तं, पुनरिन्द्रवाचिपदप्रयोगो न पुनरुक्तदोषोल्लासाय भवति।
अन्येऽपि यथा - तवप्रसादात्कुसुमा

मधु वसन्तमेव एकं सहायकं प्राप्य कुसुमायुधोऽपि (अहं) तव
प्रसादान् पिंगकधनुर्धारीणो हर्मय्याणि वैर्यस्त्रलितत्वं कुर्यान् ममाग्रं
अन्येषां धनुर्धारिणां का वार्ता।

शिवस्यापरपर्यायस्यैव पिनाकपाणेः पदस्य केवलं पिनाकायु-
धसारप्रचायकत्वान्न तदर्थमात्र एव विश्रान्तत्वान् शिवार्थबोधाय भुजः
हरपदस्य प्रयोगोऽस्ति। अतोऽत्रापि न पुनरुक्तदोषस्याऽवसरः।

इत्थं स्पष्टमेतद् यद् योगरूढरूढयोः पदयोः यत्र सहैव
प्रयोगस्तत्र योगरूढपदस्य रुढिलक्षणया केवलं योगार्थं प्रत्यायक-
त्वान्नास्ति पुनरुक्तदोषोल्लासस्यावसरः।

यत्र तु केवलं योगरूढस्यैकस्यैव प्रयोगस्तत्र द्वयो गतिः।
प्रथमा तु यत्र योगस्य कुर्वदृष्टत्वं नास्ति तत्र योगार्थस्याविवृतत्वरत्वात्
योगादृढिर्बलीयसी इति न्यायान् केवलं रूढार्थ एव गृह्यते। द्वितीया
तु यत्र योगार्थस्यापि कुर्वदृष्टत्वं गतया विवक्षितत्वं तत्राभिधेया
अन्वितस्यैवार्थस्योल्लासानन्तरं वाच्यार्थपर्यवसितिः, पुनः प्रत्यायनेन
व्यञ्जनेन वा योगार्थमात्रस्य प्रत्यायकत्वं गृह्यते। अतोऽत्रैव "कुसुमायु-
धोऽपि" इत्यत्र कामपर्यायस्यान्यस्य प्रयोगो न लभ्यते तथापि
योगरूढ्या, कामरूपाथप्रत्ययानन्तरं व्यञ्जना तदायुधासारत्व-
प्रतीतिर्जायते। यद्यपि साहित्यचिन्तामणिकारः कुर्यान् इति
पदस्यमिपप्रत्ययाशिपाहं पदस्य विशेष्यवाचिनेऽपि सत्त्वं गृह्यते किन्तु

वस्तुनान्नादक्षेपं जिनाऽपि विवक्षितपूर्वनिर्भक्तं शक्नोति। अभिधया कामरूपार्थस्य प्राप्तेनन्तरं प्रत्यापयनेन तदापुनश्चामरूपस्यापि प्राप्तिरिति। अत उच्यते 'यदवयवार्थः' शक्तिमूलप्रतीचमानार्थः- विवक्षाया समुदायार्थव्याचिपदान्तरं प्रयोजकत्वमिति नायं निबन्धः। किन्त्वयमेक-प्रकारोऽस्तीति। यथा मन्ये निजस्खलनं

हे देव (तवस्त्वने) अवर्जनीयं स्वस्खलनदोषं अन्यस्य क्वचित्पुनर्भूतं शिरसि निधाय वह्निर्भविगुमिच्छुः गिरामपि देवी सम्भवती महकवीना रसना निनिविश्य तव स्तवनं करोति।

अत्र 'गिरां देवी' इतिपदं योगरूढं। सरस्वतीति अभिधया बोधः। तथा च विद्याविषयं स्मरितत्वापवागं अन्यजनघट्टं सरस्वती न सहत इति वाच्यवाक्यार्थबोधस्योपस्कारकतया वागीश्वरी-रूपप्रतीयमानार्थ उपस्कारकः। एवं गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपोपस्कृतवाच्यात् 'वाचमधिदेवताऽपि यत्र भगवतः स्तोत्रे न पर्याप्तं सामर्थ्यमादायति तत्र कथमन्ये जीवा समर्था इत्यर्थोपपत्त्यलङ्कारो ध्वन्यते। अत्र योगरूढपदस्य 'गिरां देवी' इत्यस्यैव प्रयोगो न तु रूढस्य सरस्वती-वाचकपदस्य। एकावलीकाराणां परिकरालकारानिरूपणावसरे एतदेवं निर्दिष्टम्। यथा- नरसिंह महीपालः.....।

हे महीपाल ! भुवनत्रयं पवित्रयन्ती साक्षात् त्रिपथागा ते कीर्तिः कस्य प्रशंसनीया न पवति।

अत्र त्रिपथागतं योगरूढं। भुवनत्रयपवित्रीकरणोपमान-वर्धः, त्रिपथ्यागामित्वरूपो योगार्थः। गङ्गापदस्य रूढस्य नास्ति प्रयोगः। अतः रूढस्य प्रयोग एव करणीयः योगरूढेन सहैति नास्ति नियमः।

इसलिए ऐसे योगरूढ शब्द में यदि समुदायवाचक रूढ पद का पुनः प्रयोग हो तो पुनरुक्तदोष होगा। क्योंकि रूढार्थ भी योगरूढ पद में समिहित है।

यहाँ विशेषतः ध्यान देने योग्य यह है कि अभिधा से तो पुनरुक्तता दोष दुर्लभ है किन्तु यदि विशेष अर्थ में योगरूढ पद को लक्षणा कर ली जाय तो पुनरुक्तता नहीं होगी। योगरूढ पद से योगसम्बन्धितरूढार्थ अभिधा से गृहीत होता है यदि रूढार्थ को छोड़कर केवल योगरूपार्थ में योगरूढ पद को लक्षणा कर ली जाय तो पुनरुक्तदोष का निरास हो जायेगा। जहाँ केवल योगरूढ पद का ही प्रयोग है तथा योगार्थ विवक्षित है वहाँ व्यञ्जना का आश्रयण लेना होगा। यदि कहीं व्यञ्जना सम्भावित

न हो वाक्यार्थ में ही योगार्थ मात्र का अन्वय होता हो तो वहाँ लक्षणा भी स्वीकारा जा सकती है। इस सम्पूर्ण संघट्ट का तात्पर्य इसी में छात्रों को रचना चाहिए। वहाँ रूढ का अर्थ स्पष्ट हो सकेगा। अन्यथा विद्वानों से भी ग्रन्थार्थ दुर्लभ होगा।

अभिधा से पुनरुक्तदोषोल्लास के उदाहरण जैसे- भद्राय भवतु

यह भगवान् आप के कल्याण के लिये हो, जो भक्तों के दैन्यरूपी अन्धकार के लिए साक्षात् सूर्य है, तथा जिनके नयन, प्रातः विकासोमुख जलौत्पन्न नीलकमल के समान सुन्दर है।

'निरजनलिन' यहाँ नीरजपद योगरूढ है। यह नीरोत्पन्ननलिनरूपार्थ का वाचक है पुनः नलिन शब्द का प्रयोग होने से पुनरुक्त दोष स्पष्ट है। यदि यहाँ नीरजशब्द केवल योगशक्तिमूलप्रतीयमान अवयवार्थ को प्रतीति कराता तो नलिनपद के प्रयोग से भी पुनरुक्तदोष नहीं होता। यह भी उदाहरण इसी प्रकार है। - जैसे कि उद्यन्मण्डू

हे भगवन् ! आप के उस अधरोष्ठकान्ति के अवलोकन से तृप्ति प्राप्त करने में, सहस्रनेत्रों वाले वृषा (इन्द्र) भी समर्थ नहीं है जो उदित होते हुए चन्द्र की कान्तिकन्दल के समान कोमल तथा विकसित रत्नकमल के मध्यभाग के सदृश है।

यहाँ सहस्रनयन' शब्द, अवलोकन प्रकर्ष को प्रतीति के कारण योगार्थ मात्र में विश्रान्त है अतः इन्द्रवाची वृषा शब्द के प्रयोग से भी पुनरुक्त दोष नहीं है।

इसी प्रकार यह भी है जैसे- तव प्रसादात्

काम इन्द्र से कह रहा है कि हे प्रभो ! आप की कृपा से कुसुम अस्त्रों वाला भी मैं एक मात्र वसत को महायक लेख गिनाकपाणि हर को भी धैर्य से स्खलित कर सकता हूँ अन्य धनुर्धारियों की वार्ता ही क्या कहूँ।

यहाँ शिव का पर्याय पिनाकपाणि शब्द, शिव के आयुधसारत्त्व की प्रतीति के लिए, केवल अवयवार्थ मात्र में विश्रान्त है अतः पुनः धनुर्वन शिव का ही पर्याय हर पर से पुनरुक्त दोष नहीं होता है। इसी प्रकार 'कुसुमायुधोऽग्री' शब्द भी काम के आयुध को असारत्वप्रतीति के लिए अवयवार्थमात्र में विश्रान्त है किन्तु काम का पर्यायान्तर नहीं है फिर यहाँ रूढार्थ काम की प्रतीति कैसे होगी, ऐसी शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि 'कुर्याप' पद में उत्तमपुरुष के एकवचन से "अहं" पदका आशेष हो जायेगा इस प्रकार विशेष रूढार्थ "अहं" का भी प्रयोग मान लिया जायेगा। ऐसा साहित्यचिन्तामणिग्रन्थ के रचयिता का मत है।

आप्यय्यदीक्षित का मत है कि- वस्तुतः यह नियम नहीं है कि जहाँ

योगार्थ मात्र की प्रतीति योगरूढशब्द से करनी ही नहीं विशेष्य रूढार्थ के लिये रूढ पद का प्रयोग करना ही चाहिए बल्कि यह भी एक नियम है कि रूढ पद का प्रयोग भी करे। यदि न करे तो कोई झगति नहीं। जैसे यहाँ बिना रूढ पद के ही योगरूढ पद का योगार्थ मात्र के लिये प्रयोग किया गया है। जैसा कि— पदो निजस्ववत् ।

हे देव आप के स्तवन में, अवर्जनीय अवश्यम्भावित अपने स्वबलन लोग को दूसरे के शिर पर पर गड़कर बाहर होने की इच्छा से सरस्वती, महाकवियों की जिह्व पर अक्षित होकर, आपका स्तवन करती है।

यहाँ विशालविषय में स्थलनापवाद की अन्ध लोगो के समान परम्परा तो नहीं सहेत करती है इस वाच्यार्थ के उपरान्त के रूप में गिरा देती पर वह प्रतीयमान् कर्मावस्थी रूपावयवार्थ विज्ञात है तथा उसमें उपरान्त यह वाच्यार्थ 'वागीश्वरी' भी नहीं भगवान् के शब्दों में प्रयोग योगार्थ नहीं रखती वही अन्य लोग जैसे भगार्थ ही सकते हैं इस अवर्जनीयताकार को ध्वनित करना है। जहाँ 'गिर देती' के अविरक्त सरस्वती का वाचक कोई पदान्तर नहीं प्रयुक्त है। फिर भी योगार्थ नहीं है।

एकाग्रलोक में भी साभिप्राय विशेष्य लक्षण वाले परिकराङ्गकालकार के शब्दार्थ में योगरूढपद के रहने रूढप्रयोग में नियम नहीं माना है। जैसा कि सरसिह ।

हे सरसिह मातीपात्र : तीनो भुवनो को पवित्र करने वाली आप की त्रिभगणरूपी कीर्ति, किससे प्रशंसनीय नहीं होती।

यहाँ साभिप्राय विशेष्य के रूप में प्रयुक्त त्रिभगणपद, तीनो भुवनो के पवित्रोत्तर को उपपत्ति के अभिप्राय में प्रयुक्त है, विशेष्यवाच्यो कोई पर्यायान्तर यहाँ भी नहीं है अतः पर्यायान्तर के प्रयोग की नियम नहीं मानना चाहिए।

इस प्रकार योगरूढ पद, जब केवल योगिकार्थशक्तिमूल प्रतीयमान योगार्थ को अन्तर्निहित किए ही वो समुदायार्थको पर्यायान्तर का प्रयोग होता भी है तथा नहीं भी होता है। इन दोनों प्रकार की प्राप्ति होने से पर्यायान्तर प्रयोग करना ही कोई नियम नहीं है।

कविद्योगरूढितः पदस्य विषयविशेषवयवार्थानन्वया-
त्समुदायार्थमात्रे विश्रान्तिः। यथा—

‘उल्लासयत्युदरबन्धनिबद्धदिव्य-

शोणाश्रमरिश्मकलिकावलिरव्युत्था।

आगाम्यनेकशतकल्पविधातृर्ष-

नाभ्युद्गताम्बुरुहकुड्मलपङ्क्तिशोभाम्॥’

अत्र ‘अम्बुरुह’पदस्य भगवन्नाभिपदमेववयवार्था-
नन्वयाद्दृढेव। क्वचित्तु समुदायार्थानन्वयादवयवार्थमात्रे तत्र
विश्रान्तिः। यथा -

‘कह्लारकैरवमुखेष्वपि पङ्कजेषु

लोकेश यत्कमलमेव तथा प्रसिद्धम्।

मन्येऽभिजातभवदास्यतुलास्य नेति

मर्मप्रकाशनमिदं विधिनैव क्लृप्तम्॥’

अत्र ‘पङ्कज’पदस्य कुमुदकह्लारादिषु समुदायार्थानन्वयाद्योगो
एव।

नैयायिकास्तु— पङ्कजादिशब्दरूपकपदोपादानरूपान्तरङ्ग-
प्रत्यासत्त्वा नाभिकमलकुमुदाद्यन्वयात्प्रागेव पङ्कजनिकर्तृत्व-
वैशिष्ट्येनोपस्थितस्य पदमत्वस्य, पदमाश्रयत्वेनोपस्थितस्य
पङ्कजनिकर्तृत्वस्य च नाभिकमलकुमुदाद्यन्वये नाकाङ्क्षा; न
चाविशिष्टस्य तदन्वयविषयिणी शब्दधीः, इति तदन्वयार्थ
स्वतन्त्रपदमत्वपङ्कजनिकर्तृत्वोपस्थितये पङ्कजादिपदस्य
लक्षणैवाभ्युपगन्तव्या, न तु रूढियों गो वा। न च- प्रथमं
योगरूढिभ्यां स्वार्थोपस्थाने पञ्चान्नाभिकमलान्वयार्थ
विरूद्धवृत्तिमूकीभावे तदितरवृत्त्यैव स्वतन्त्रपदमत्वाद्युपस्थिते-
राकाङ्क्षादिसंभवान्न तदर्थमिह लक्षणा-इति वाच्यम्,
केवलरूढ्यादिना स्वतन्त्रपदमत्वाद्युपस्थित्यर्थं शब्दस्य पुनरनु-
संधानकल्पनागौरवापत्तेः। लक्षणापक्षे तु नायं दोषः,
पङ्कजनिकर्तृत्वसंबलितपदमत्वरूपविशिष्टोपस्थितेर्विशेषण-
विशेषान्यतरोपस्थितिलक्षणद्वारत्वेन द्वारे सति द्वारिणः
पुनरनपेक्षणात्। न च- शक्योपस्थितिलक्षणयाभिव
शक्योपस्थित्यन्तरेऽपि द्वारम्। येन रूढ्यादिना स्वतन्त्र-
पदमत्वोपस्थितावपि पुनरनुसंधानं न कल्प्येत - इत्याहुः।
इत्थमभिधा त्रिविधा निरूपिता।

ननु यत्र योगरूढ-रूढयोः सभयोः प्रयोगस्तत्र योगरूढस्य रूढिलक्षणा केवलावयवार्थबोधो वाक्यार्थबोधो दर्शितः। यत्र तु केवलं योगरूढपदं तत्र रूढ्यर्थस्य वाक्यार्थान्वयानन्तरं व्यञ्जनया प्रत्यायनेन वा योगार्थः गृहीतः, किन्तु यत्र वाक्यार्थान्वयबोधायैव केवलं योगार्थस्यावश्यकता तत्र का गतिः। नहि द्वितीयाक्षणाभाविनो प्रतीयमानस्य प्रथमक्षणभावविवाच्येन सहान्वयः सुलभः येन वाक्यार्थः सुघटो भवेत् इति मनसि निधाय पुनः योगरूढपदस्य केवलसमुदायार्थपरत्वं तथा च केवलावयवार्थपरत्वं दर्शयति।

तस्मादिति -

योगरूढपदस्य यौगिकार्थशक्तिमूलकेवलयोगार्थरूप (लक्ष्य) प्रतीयमानार्थगर्भीकारेण रूढपदस्य प्रयोगाप्रयोगाभ्यां द्वैविध्यं दर्शितम्। अतो यत्र योगरूढस्य समुदायार्थमात्रे विश्रान्तिस्तत्र योगादूर्ध्विलेखसो इति न्यायवलात् केवलरूढ्यर्थेन वाक्यार्थनिर्वाहः यथा -
उल्लायन्पुनरुदर

एषा कटिप्रदेशनिबद्धशोणमणिकान्तिकुड्मलावलिः आगामिभिर्भाविभिरेकशतकल्पविरिञ्चिभिर्निचितानां नाभिपद्मकुड्मलानां पङ्क्तोः शोभा उत्ल्लासयति।

अत्राम्बुरुहपदं योगार्थनिरपेक्षत्वेन केवलपद्मरूपार्थत्वेना न्वयादूर्ध्वः। अत्र तु कथञ्चिदुक्तन्यायेनाभिधयैव वाक्यार्थो घटते। किन्तु यत्र समुदायार्थान्वयादवयवार्थमात्रेण तस्य विश्रान्तिस्तत्र का गतिः ? यथा -
कह्लारकैवमुखेयु

हे लोकेश ! स्वतन्त्रकमलकुड्मललाघाभिधायिषु पङ्क्त्युपयुक्तेष्वलं कमलमेवभिधया प्रसिद्धं तत्र मन्ये विधिनाैव किमपि सम्यक्काशने कृतम्। किं ममीति चेत् ? (कम्) प्रति अलमिति असमर्थमिति कमलम्)। अथवा तस्य पङ्क्त्यन्तर्भावभाजतत्वेन प्रसिद्धस्य सह का तुलना। अभिजातं भवदास्यविशेषं प्रत्यलमिति विचिन्त्य विधानकमलमवार्थः पङ्क्त्यस्य गृहीतः। अतः अपिजातभवन्मुखतुलनाऽस्य नास्ति इति मन्ये।

अत्र कुमुदादादीनाम् पङ्क्त्यनिकर्तृत्वेनाव्यात् समुदायार्थवत्कमल-रूपत्वेनान्वयान्न केवलं पङ्क्त्यपदस्य योगार्थ एव तेखभोष्टः इति केवलं योगः।

ननु नियतार्थोपस्थापकत्वमेवाभिधेति कथं क्वापि केवलं रूढ्यर्थस्य क्वापि केवलं योगार्थस्योपस्थानमभिधया संघटते इति प्रश्नं नैयायिकपक्षा समादधति। नैयायिकास्तु इति। पङ्क्त्यपदस्य पङ्क्त्यनिकर्तृत्वविशिष्टपदमत्वं तथा च पदमत्वविशिष्टपङ्क्त्यनिकर्तृत्वमित्यभिधया प्रतिपाद्यते। अतो योगरूढस्य पङ्क्त्यस्य नाधिकमलकुमुदादावन्वयः प्राग् न सम्भवति। यतोहि अविशिष्टस्य योगरूढपङ्क्त्यशब्दस्यान्वयविषयिणी शाब्दधीरेव नौदति। अतः नाधिकमलकुमुदादावन्वयवारं लक्षणाया पङ्क्त्यादिशब्दस्य स्वतन्त्रतया केवलतया, पदमत्वस्य पङ्क्त्यनिकर्तृत्वस्य चोपस्थितिर्भवति, तदानीं लक्ष्यार्थस्य पङ्क्त्यनिकर्तृत्वमात्रयोगार्थस्य कुमुदादावन्वय इति वाक्यार्थः सुघटः।

ननु मा भूत् लक्षणा, योगरूढिभ्यामभिधाभ्यामेव पृथक् पृथगर्थलाभः, कथं न भवति इति चेत् उच्यते न च प्रथमं इति।

योगरूढपदस्य अम्बुरुहपङ्क्त्यादेः स्वार्थोपस्थाने जाते पश्चान्नाधिकमल पङ्क्त्यनिकर्तृत्वाद्यन्वयार्थ योगरूढिभ्यामभिधाभ्यामन्यतरस्या विरूढवृत्तर्मुकीभावे आकाङ्क्षादिवशात् स्वतरवृत्तैव स्वतन्त्रपदमत्वपङ्क्त्यनिकर्तृत्वाद्युपस्थितेः सम्भवात् स्वतन्त्रार्थाय लक्षणा न स्वीकर्तव्या, इति न वाच्यम्, योगार्थस्य रूढ्या नियन्त्रितत्वेन, केवलरूढ्या केवलयोगेन वा स्वतन्त्रतया पदमत्वस्य पङ्क्त्यनिकर्तृत्वस्य चोपस्थित्यर्थं शब्दस्य पुनरनुसन्धानवश्यकते अतः पुनरनुसन्धानकल्पनागौरवत्प्राप्त्या न केवलरूढ्यादेर्गर्भीकाराया विषयः। लक्षणायाः स्वीकारे न गौरवापत्तिः। योगरूढ्याभिधायपङ्क्त्यनिकर्तृत्व संबलितपदमत्ववृत्तिविशिष्टस्योपस्थित्यनन्तरं लक्षणाया, क्वचिद् विशेषणस्य पङ्क्त्यनिकर्तृत्वस्य क्वचिद् विशेष्यस्य पदमत्वस्य चोपस्थितौ नास्ति वार्धेति द्वारस्य लक्षणाया सत्त्वे द्वारिणः लक्ष्यस्योपस्थितिर्विषयत्वेन। सति द्वारे द्वारिणोऽनुपेक्षणात्। न च यथा लक्षणायां शक्योपस्थितिर्द्वारं तथैव योगार्थरूढ्यान्त्यतर शक्योपस्थित्वावापि सैवशक्योपस्थितिर्द्वारं कल्पयितुं शक्यते, येन रूढ्यादिना स्वतन्त्रपदमत्वानुपस्थितौ शब्दस्य पुनरनुसन्धानं न कल्पयेत्। अत एतादृशस्थले लक्षणा स्वीकर्तव्येति भावः। इत्यम-भिधानिरूपिता।

जब पर्यायान्तर का प्रयोग नहीं होता है तथा योगरूपद पद केवल रूढ अर्थ का प्रतिपादन करता है, वहाँ 'योगादृष्टिक्रियसी न्याय से वाक्यार्थ बोध में अभिधा बाधित नहीं होती, किन्तु जहाँ वाक्यार्थबोध में रूढार्थ की छोड़ कर केवलयोगार्थ का वाक्यार्थ में अन्यय करना पड़ता है वहाँ लक्षणा स्वीकार करनी चाहिए। किन्तु नैयायिकों ने दोनों स्थानों में लक्षणा ही स्वीकार की है। क्योंकि योगरूप पद प्रयोग के कारण अन्तरङ्ग प्रत्यासक्ति से योगार्थ तथा रूढार्थ समन्वित होकर ही वाक्यार्थ में अन्वित होने की आकाङ्क्षा रखते हैं अलग-अलग अन्वित होकर शाब्दबोध करने की क्षमता (अभिधा से) इनमें नहीं होती अतः उनके मत में दोनों योगार्थमात्र को, या रूढार्थ मात्र की स्वतन्त्रतया वाक्यार्थ में अन्वित होने के लिए लक्षणा का आग्रय लेना होगा।

अतः योगरूपद के अवयवार्थ का विपक्षविरोध में अन्यय उचित न होने पर, केवल समुदायार्थ मात्र का जब अन्यय अपेक्षित होता है तो, समुदायार्थ मात्र में ही योगरूप पद की विश्रान्ति होती है। जैसा कि -

उल्लसितपदम्
हे अच्युत आप के कांटेभाग में निबद्ध लालमणि की कानि-कालिकाओं की पंक्तियाँ, भावी सैकड़ों कल्प के विधाताओं को गर्प में लिए हुए नाभिकमल के पुकड़ों की पंक्तियों की शोभा को उल्लसित कर रही है।

यहाँ 'नाभ्युदगतामुकृह' में अम्युरुह योगरूपद, का योगार्थ भगवान् के नाभिकमल रूप अर्थ के लिए अनुपयुक्त होने से केवल कमलरूप कदुर्थ में यह पद विश्रान्त हो रहा है।

कहाँ समुदायार्थ का अन्यय न होने से योगार्थ मात्र में इसकी विश्रान्ति होती है जैसे कहाँकरव ...

हे लोकेश ! पङ्क से उत्पन्न होने वाले कलहार करव कमल आदि शब्दों में, 'कमल' ही जो पङ्कशब्द से प्रसिद्ध है इसमें स्पष्ट है कि मनोहर, समुद्रभव, अभिजात आप के मुख की तुलना उसमें नहीं है इस गूढ़ रहस्य का प्रकाशन ब्रह्मा ने ही कर दिया है। कहीं पङ्कन कमल कहाँ अभिजात मुख। नाम से ही 'पङ्क' (कमल) की तुलना 'अभिजात' से नहीं की जा सकती।

यहाँ 'पङ्क' योगरूपद है रूढि केवल कमल में है अतः कमल रूपार्थ का अन्यय कलहारकुमुदादि में नहीं हो सकता। केवल योगार्थ पङ्कजनिकर्तृत्व ही कलहारदि में अन्वित हो रहा है अतः यहाँ केवल योगार्थ में विश्रान्ति है।

यहाँ नैयायिक कहते हैं कि 'पङ्क' आदि योगरूप पद का उपादान होने के कारण अन्तरङ्गप्रत्यासक्ति से इसका केवल रूढार्थ कमलार्थ का या केवल पङ्कजनिकर्तृत्व योगार्थ, का ही क्रमशः नाभिकमल एवं कुमुदादि

में अन्यय होते हैं। किन्तु इसके पूर्व ही पङ्कजनिकर्तृत्ववैशिष्ट्य से उपस्थित पदमत्व विशिष्ट का या पदम के आश्रितत्वेन उपस्थित पङ्कजनिकर्तृत्व रूप विशिष्ट का, जो अभिधा से प्राप्त है नाभिकमल या कुमुदादि में अन्यय की आकाङ्क्षा नहीं है। अविशिष्ट अलग-अलग अन्ययविषयिणी जो शाब्दबोध अभीष्ट है, वह अभिधा से नहीं हो सकती अतः अभीष्ट अन्यय के लिए योगरूप पद से, स्वतन्त्रतया केवल पदमत्व या केवल पङ्कजनिकर्तृत्व की उपस्थिति के लिए, लक्षणा ही स्वीकार करनी होगी न कि अलग-अलग कहीं रूढि, तथा कहीं योग रूप अभिधा।

यदि यह कहें कि योगरूप पद की योग एवं रूढि वृत्तियों में स्वायत्तपस्थिति के पर्याय, नाभिकमल आदि रूप विशेष अर्थ के अन्यय के लिए जब (योग या रूढि में से) एक वृत्ति अन्ययविरोध के कारण मूक हो जायें तो दूसरी वृत्ति से स्वतन्त्र पदमत्व आदि की उपस्थिति होकर आकाङ्क्षादिवशात् अन्यय सम्भव हो है फिर लक्षणा क्यों मानें ? तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि योगरूप पद से जब एकवार अन्वित अर्थ उल्लसित हो जायेंगा तो पुनः स्वतन्त्र पदमत्वादिव रूढार्थ के लिए केवल रूढिवृत्ति के प्रसार हेतु पुनः शब्द के अनुसन्धान की कल्पना करनी पड़ेगी जो गौरवदोष से दुष्ट होगा।

लक्षणा मान लेने पर पुनः शब्दानुसंधानरूपगौरव नहीं होगा। योगरूपि अभिधा से पङ्कजनिकर्तृत्वविशिष्टपदमत्वरूपार्थ की उपस्थिति के बाद, केवल पङ्कजनिकर्तृत्वविशेषण, या केवल पदमत्वरूप विशेष में से किसी एक की उपस्थिति हेतु भागव्यग्रूप लक्षणा द्वार (साधन) बनेगी। जब उपाय (लक्षणा) प्राप्त है तब उपेय, भागव्यग्रूप से केवल विशेषण या विशेष के ग्रहण की उपेक्षा नहीं कर सकते। जैसे लक्षणा में शक्योपस्थिति द्वार होती है वैसे अभिधेय से ही शक्यान्तरोपस्थिति द्वार नहीं होती है। यदि शक्यान्तरोपस्थिति में भी शक्योपस्थिति द्वार होती तो रूढि या योग से स्वतन्त्रतया क्रमशः पदमत्व या योगत्व मात्र की उपस्थिति में, पुनः शब्दानुसंधान की कल्पना नहीं करनी पड़ती। ऐसा नैयायिक कहते हैं।

सा चानेकशक्तिरस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियम्यते।

तथाहुः-

'संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधितः।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरवादयः।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।' इति।

अर्थः = प्रयोजनम्। प्रकरणं च = वक्तुं श्रोतुं बुद्धिस्थता।
लिङ्गं = प्रयुक्तनानार्थपदवाच्यान्तरव्यावृत्तौ धर्मः। शब्दस्यान्यस्य
सन्निधिः = नानार्थपदैकवाच्यसंसार्यथान्तरवाचिपदसमभिव्याहारः।
सामर्थ्यं = कारणत्वम्। औचित्यं = अर्हता। व्यक्तिः = स्त्रीपुंनपुंसकम्।
शेषं प्रसिद्धम्। तत्र- 'शङ्खचक्रधरो हरिः' इत्यत्र शङ्खचक्रसंयोगेन
हरिशब्दस्य भगवत्प्रतिष्ठा नियम्यते। 'अशङ्खचक्रो हरिः' इत्यत्र
तद्विप्रयोगेन 'रामलक्ष्मणौ' इत्यत्र रामपदस्य लक्ष्मण-
साहचर्यद्विषयपुंगवे। 'छायातपो' इत्यत्र छायाशब्दस्यातपेन सह
सहानवस्थानविरोधादनातपे। 'रामरावणयोरिव' इत्यत्र रावणेन
सह वध्यधातकभावविरोधाद्रामपदस्य रामचन्द्रे। यत्तु-
'रामार्जुनपदयोर्वध्यधातकभावविरोधाद्भार्गवकार्तवीर्ययोरभिधा-
नियम्यते - इत्युदाहरणम्, तन्न। 'राम'पदस्य भार्गवेऽ-
भिधानियमने सति तद्विरोधप्रतिसंधानेन 'अर्जुन'पदस्य
कार्तवीर्येऽभिधानियमनम्, तस्मिंश्च सति तद्विरोधप्रतिसंधानेन
'राम'पदस्येति परस्परश्रयापत्तेः। तस्मादन्यतरपदस्य
व्यवस्थितार्थत्वं एव स्मृततद्विरोधप्रतिसंधानान्नानार्थपदस्या-
भिधानियमनमिति प्रागुक्तमेवोदाहरणमुत्सर्ज्यम्। इदं तु
शब्दान्तरसन्निधेदाहरणं भविष्यति। 'हरि मोक्षाय भजत' इत्यत्र
मोक्षरूपेणार्थेन 'हरि'शब्दस्य भगवत्प्रतिष्ठा नियम्यते। 'विवेश
रामो दुर्धर्षं तापसाश्रममण्डलम्' इत्यत्र 'राम'पदस्य
प्रकरणद्वयवारे। 'कुपितो भूभृत' इत्यत्र कोपलिङ्गेन पर्वतव्यावृत्तेन
भूभृदित्यस्य राजनि। संयोगोदाहरणे प्रसिद्धिप्राचुर्यम्,
शङ्खदेरिन्द्रादावर्थान्तरेऽपि संयोगविरोधात्। लिङ्गोदाहरणे तु
सर्वार्थान्तरव्यावृत्तिरिति भेदः। 'निषधं पश्य भूभृतम्'
इत्यत्र जनपदविशेषसाधारणस्य 'निषध'पदस्य पर्वतवाचि-
'भूभृत'पदसन्निधानात्पर्वतविशेषे नियम्यते। भूभृतपदस्य च
राजसाधारणस्य पर्वतविशेषवाचिपदसन्निधाना पर्वतः। न

चान्योन्याश्रयः। न ह्यत्र समभिव्याहृतशब्देन तदर्थप्रतिपादनम-
भिधानियमनायापेक्ष्यते, किं तु स्वार्थेन गृहीतसंसर्गोऽर्थे व्युत्पन्नो
यः शब्दः, तत्समभिव्याहारमात्रम्। तथा च यथा संबन्धि-
दर्शनात्संबन्ध्यन्तरस्मृतिस्थले गृहीतसंबन्धस्य संबन्धिना दर्शनमात्रं
संबन्ध्यन्तरस्मरणायापेक्ष्यते, न तु तद्दर्शानन्तरं तत्संबन्ध-
स्मरणमपीति नान्योन्याश्रयः, तथेहापि 'निषधभूभृत' पदयोर-
भिधानियमनाया गृहीतस्वस्वार्थव्युत्पत्तिकं भूभृन्निषध'शब्द-
समभिव्याहारमात्रमपेक्ष्यते इति तत्तदर्थप्रतिपादनस्यानपेक्षणा-
नान्योन्याश्रयः। नन्वेवं 'शङ्खचक्रधरो हरिः' इत्यादावपि
'शङ्खचक्रादिशब्दान्तरसन्निधिनैवाभिधानियमनं भविष्यतीति व्यर्थं
पृथक्संयोगाद्युदाहरणम्-इति चेत्, मैवम्। तत्र शङ्खचक्रादिशब्दानां
नियतार्थतया श्रवणमात्रादर्थप्रतिपादकत्वेन तत्प्रतिपादितार्थ-
संयोगादिभिरभिधानियमनसं भवात्। 'शब्दान्तरसन्निधिरपि
तत्रास्ति' इति चेत्, अस्तु, - तथापि हरिशब्दाद्विधानियमनसमर्थे
तदर्थसंयोगादि- रूपसनिहित- संबन्धेनान्तरेऽपि शङ्खचक्रादावुपस्थिते
तत्रापि वाचकतया व्यवहितसंबन्धेन बहिरङ्गशब्दान्तरसन्निधि-
नोदाहरणत्वमर्हति। अतो यत्र 'निषधं पश्य भूभृतम्'
इत्यादावुभयस्य नानार्थतया न कस्याप्यर्थस्य प्रथममुपस्थितिः,
तत्रैव बहिरङ्गस्यापि तस्य नियामकत्वेनोदाहरणमिति न
कश्चित्संकरः। यत्तु-नियतार्थशब्दसामानाधिकरण्यं शब्दान्तर-
सन्निधिः, तेन च 'देवस्य त्रिपुरारतोः' इत्यत्र 'देव'शब्दस्य
शंकरे नियमनम्, तत्र 'त्रिपुरारति'-शब्दस्य नियतार्थत्वात्
इति, तदयुक्तम्। समभिव्याहृतशब्दस्य तन्नियमनात्। अन्यथा लिङ्गोदाह-
रणेऽपि शब्दान्तरसन्निधेरिव नियामकत्वापत्तेः। न च 'सामाना-
धिकरण्ये शब्दान्तरसन्निधिः', वैयधिकरण्ये 'भूभृतः कोपः'
इत्यादिरूपे 'लिङ्गादिकम्' इति भेदकथनम्। उभयत्र
शब्दप्रतिपादितलिङ्गादेरेव नियामकत्वेनास्य भेदकथनस्य

परिभाषामात्रत्वात्। 'व्यालो दानेन राजते' इत्यत्र 'व्याल-
दान' पदयोर्भूभयोरप्यनियतात्वेऽपि वैयधिकरण्येऽपि
परस्परसमभिव्याहारेण दुष्टगजमदजलयोरभिधानियमनस्य
सर्वानुभवसिद्धत्वेनावश्यसंग्राह्यत्वात्तदक्षग्रहेण लक्षणकथन-
स्यात्यन्तानुक्तत्वाच्च। तस्मादस्मदुक्तैव शब्दान्तरसंनिधेः
प्रक्रियादरणीया। 'मधुना मत्तः कौकिलः' इत्यत्र कौकिल-
मदकारणत्वरूपेण सामर्थ्येन वसन्ते 'मधु' शब्दस्याभिधा-
नियम्यते। 'भजत हरिं भवतापखिन्ना' इत्यत्र भवताप-
हरणौचित्येन 'हरि' पदस्य लक्ष्मीरमणे। अर्थोदाहरणे चतुर्थ्या
कार्यत्वनिर्देशः, सामर्थ्योदाहरणे तृतीयया करणत्वनिर्देशः,
औचित्योदाहरणे तदुभयानिर्देशोऽपि योग्यतामात्रेण समभिव्याहार-
लभ्यकार्यकारणभावावगमः, इति भेदः। 'क्षीराण्वे हरिः शैते'
इत्यत्र देशेन, 'प्रलये तिष्ठति हरिः' इत्यत्र कालेन च गरुड-
ध्वजे 'हरि' पदस्य नियम्यते। 'मित्रो भाति' इत्यत्र पुंयुक्त्या
तर्पणे, सुहृद्वाचिनी नपुंसकत्वात्। 'तिस्र एव सायाहस्योपसदः,
द्वादशाहीनस्य' इति श्रुतौ 'अहीन' पदस्य मध्योदात्त-
स्वरेणाहर्गणसाध्यस्युक्त्या के द्वादशाहाख्यक्रतुविशेषे, 'अहः खः
क्रतौ' इत्यनुशासनात्। हीनो न भवति' इति नञ्सामासे
सत्यहीनपदस्याद्युदात्तत्वात्। आदिशब्देनाभिनयोपदेशौ गृह्येते।
अभिनयः = विवक्षितार्थकृतिप्रदर्शको हस्तादिव्यापारः। उपदेशः =
विवक्षितार्थस्य शृङ्गग्राहिकया निर्देशः।

'परारिसंश्रितसनिवेशौ परुत्पराभूतसरोजकोशौ।

इमावियन्तौ पुनरपमस्ते कुर्वी कियन्तौ परतो भवेताम्॥'

इत्यत्र तत्कालस्तनपरिमाणप्रदर्शकहस्तव्यापारेण 'इयत्'
पदस्य परिमाणविशेषः-

'इतः स दैत्यः प्रातश्चीनैत एवाहंति क्षयम्।

विष्वक्षोऽपि संवर्ध्वं स्वयं छेतुमसाप्रतम्॥'

इत्यत्र 'इतः' इति स्वात्मनिर्देशेन तस्य वक्तृरि

परमेष्ठिन्यभिधा नियम्यते।

अभिधेयमनेकार्थस्यशब्दस्यैकस्मिन्नर्थे संयोगविप्रयो-
गादिभिर्नियम्यते। नियामकाः संयोगादयस्तु-

संयोगो विप्रयोगश्चेति

एषु केचन लक्ष्यन्ते शेषाः स्पष्टाः। तेषु अर्थः, प्रयोजनमिति।
प्रकरणं, वक्तृबोद्धव्यबुद्धिस्थत्वम्। लिङ्गम्- नानार्थकपदवाच्यार्था-
न्तरेभ्यो व्यावृत्तः एकार्यमात्रधर्मः। शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः,
समभिव्याहृतेपुनानार्थकपदेपु वाच्यैकार्थमात्रसंसर्गित्वम् इतरार्थेषु
परस्परसंसर्गित्वम् इति। सामर्थ्यं कारणत्वं। औचित्यो योग्यता।
व्यक्तिः = लिङ्गानि स्वापुनपुसकानि।

छायातपो इत्यत्र नानार्थकछायापदस्य सहानवस्थानविरोधि-
तावशादनातपोऽर्थः वाच्यः। एवमेव रामरावणयोपि। नानार्थकरामपदस्य
विरोधितान्वशद् रामपदस्य रामत्वो वाच्यः न तु रामत्वोक्तविरोधि-
तादाहरणं रामाजुनयनिरयोः' इति। रामाजुनयनय नानार्थकयोक्तयो-
रामाजुनयोर्मध्ये यद्येकस्याभिधागम्यमनेन निश्चिततावांचः स्यात्,
तदानीं तद्विरोधप्रतिसन्धानेनेतरस्याभिधानियमनं भवेत् अतः
अन्योन्याश्रय- दोषव्यस्तत्वान्नात्र विरोधिता संभवते। अतः उपयोक्त-
व्ये एकस्य नानार्थकत्वमेकस्य व्यावर्धितार्थत्वमावश्यकम्। रामाजुनयन-
शब्दान्तरसन्निधिरदाहरणं भवितुं शक्नोति यतो हि नानार्थकरामपदस्य
परशुगुरुपदवाच्यार्थं विहाय तदतिराग्राह्यत्वार्थं सन्तु, तथा
नानार्थकाजुनपदस्य सहस्रानुसम्पदवाच्यार्थं विहाय कौन्तेयादिष्वर्थं
सन्तु, नान्वयो भवति। परशुगुरु-सहस्रानुसम्पदवाच्यार्थं दोषं विरो-
धानुसंधानेन धर्म्यर संसर्गित्वात् शब्दान्तरसन्निधिरदाहरणमुचितमिति
भावः।

अर्थवशाद् 'हरिं मोक्षयति' नानार्थकहरिपदस्य भगवति विष्णौ
अभिधा नियम्यते। 'कृपितो भूभृत्' इत्यत्र नानार्थकभूभृत्पदस्य
राजनि चेतने न तु स्वावरं पर्वते, कोपस्य चेतनलिङ्गत्वात्। लिङ्गसंयोग-
योस्तु सर्वथान्यतरव्यावृत्तधर्मः प्रसिद्धप्राचुर्यत्वधर्मश्च परम्यरं
भेदकोऽस्ति।

शब्दस्यान्यस्य सन्निधेरदाहरणं तु 'निषधं पश्य भूभृत्' इति।
जनपद-पर्वतविशेषार्थकत्वात् नानार्थक निषधपदम्। पर्वतराजार्थकत्वाद्

भूभुत्पदं नानार्थकमिति । उभयोरपि नानार्थकयोः वादा निषधपदस्य पर्वतविशेषस्तथा भूभुत्पदस्य पर्वतरूपोऽर्थो गृह्यते तथा च निषधः पर्वतः "इति संसर्गो भवति । यदा राजरूपार्थोः गृह्यते तदानीं" निषधनामपर्वतः राजा च "त्यसंसर्गत्वमेवोभयोर्भवति । एवमेव निषधपदाद् जनपदस्यार्थगृहेऽपि संसर्गाभावः बोद्धव्यः । अतः शब्दस्यान्यस्य सन्निधिवशाद् निषधभूभुत्पदशब्दयोरुभयोरनिषधनामा पर्वतरश्नार्थे नियम्यते ।

नानान्योन्याश्रयो दोषः रामार्जुनवत् । यदाऽभिधानियमनाय समभिव्याहृतशब्देनैव तदर्थप्रतिपादनं भवति तदानीमन्योन्याश्रयः, अत्र तु स्वार्थेन सह गृहीतसंसर्गो अर्थः, व्युत्पन्नस्य शब्दस्य समभिव्याहारमात्रम् तत्र नान्योन्याश्रयः । चेत् सम्बन्धदर्शनानन्तरं सम्बन्धिनः स्मरणं सम्बन्धिनो दर्शनान्तरं तत्सम्बन्धस्मरणं स्यात्तदानीमन्योन्याश्रयः सम्भवेत्, चेत्सम्बन्धदर्शनं सम्बन्ध-
न्तस्मरणं स्यात् तदानीं कुतोऽन्योन्याश्रयः ।

रामार्जुनिति स्वले परस्परसम्बन्धयोः परशुराम-सहस्रार्जुनौ स्त तयोरेता एकस्य सम्बन्धितं परशुरामस्य सहस्रार्जुनस्य वार्थस्य नियतप्रतिपादनं स्यात् तदानीमप्यस्यार्थस्य विरोधित्वसम्बन्धेन वाच्यत्वं भवति । अतः सम्बन्धदर्शनं तत्सम्बन्धस्मरणान्न्योन्याश्रयः । निषधं पश्य भूभुत्पदमप्यत्र गृहीतसंसर्गार्थव्युत्पन्नयोर्निषधभूभुत्पदयोः समभिव्याहारात्मनोपेक्ष्यते इति नान्योन्याश्रयः ।

अस्तु नान्योन्याश्रयः । किन्तु गृहीतसंसर्गस्वार्थव्युत्पन्नयोः समभिव्याहार इति शब्दान्तसन्निधिलक्षणं मन्यते तदानीं 'सशङ्खवक्रो हरिः' इत्यत्रातिव्यापितः स्यात् । अत्रापि गृहीतसंसर्गस्वार्थव्युत्पन्नयोः समभिव्याहार इति चेत् न । अत्रैकस्य नियतार्थत्वं तत्र त्वयोरन्योन्याश्रयकत्वमिति एको भेदः, द्वितीयस्तु संयोगस्य वाचकतयोपपत्तिर्यौ संयोगसम्बन्धस्यान्तरङ्गत्वात् शब्दान्तरमनियेभ्यः आर्थसम्बन्धेन बहिरङ्गत्वात्, अत्र संयोगस्योदाहरणं भवितुं युक्तम्, 'अमिदं बहिरङ्गमन्तरङ्गं' इतिन्यायस्य प्राप्तिर्यात् ।

अत उच्यते, तथापि हरिशब्दादिभिधानियमनसमर्थं तदर्थसंयोगादि-
श्रमसन्निहितसम्बन्धेन वाचकतयाऽप्यवहितसम्बन्धेन च, अन्तरङ्ग-
शङ्खवक्रयोः उपस्थिते, बहिरङ्गतया शब्दान्तसन्निधेरुदाहरणत्वं

नार्हति । अतो यत्र 'निषधं पश्य भूभुत्पदम्' इत्यादावुभयस्य नानार्थकता न कस्याप्यर्थस्य प्रथममुपस्थितिस्तत्रैव बहिरङ्गस्यापि तस्य नियमकत्वेनोदाहरणमिति न कश्चित्संकरः ।

यत्तु शब्दस्यान्यस्य सन्निधेर्लक्षणां नियतार्थशब्दसामानाधि-
करण्यमिति कृत्वा देवस्य त्रिपुरारातेः' इत्युदाहिते तन्नोचितम् । त्रिपुरारातिः शङ्करे नियतार्थकः, अतः देवस्य शिवरयेत्यर्थः न तु कस्यचिदन्यस्य सुरस्य राज्ञो वेति अभिधाया नियमने, लिङ्गस्यैव हेतुत्वं मन्तव्यम् । यतो हि यथा कुपितत्वं चेतनकामस्यैकधर्मस्तथैव त्रिपुरारातित्वं केवलं शिवस्येति । वैयधिकरण्यसामानाधिकरण्ये लिङ्गशब्दो नास्ति निषधेति न कदाचन पुनरुदाहरणमत्र त्वम् ।

तथा च 'व्यालो दानेन राजते' 'अत्र केनाभिधानियमनं स्यात् । अत्र व्यालदानयोरुभयोरप्यनियतार्थत्वमस्ति । व्यालदानयोर्वैयधिक-
रण्येऽपि परस्परं समभिव्याहारेण दुष्टगजमदजलयोरभिधानियमनस्य सर्वानुभवसिद्धत्वात् । अतः शब्दस्यान्यस्य सन्निधेर्लक्षणं 'नानार्थपदैकवाच्यसंसर्गार्थान्तराचिपदसमभिव्याहारः' इति युक्तम्, न तु नियतार्थशब्दसामानाधिकरण्यम्' इति । अन्यथा अस्य संग्रहो दुर्घटः स्यात् इति भावः ।

'मधुना मृतः कोकिलः' अत्र नानार्थकमधुशब्दस्य कोकिलमदसामर्थ्येन व्यक्तेः अभिधानियमनम् ।
'भजत हरिं भवतापखिनाः' अत्र भवतापखंदहरणीनित्येन हरिपदस्य विष्णौ ।

अर्थसामर्थ्याचित्योरुदाहरणेषु क्रमशः चतुर्थ्या तृतीयया कार्यकारणभावोदाहरणमकार्येन्यतया वा निर्देशेन भेदोऽवगतव्यः । 'श्रीगणेशाय नमः' अत्र देशकालादौ हरिपदस्य विष्णावभिधा-
नियमनम् । 'प्रलये निष्ठति हरिः' अत्र कालवशादिति । 'मित्रो भानि' इति पुल्लिङ्गत्वमित्रशब्दस्य व्यक्त्या सूर्यं, न पुंसकत्वं तस्य सुहृदि ।

यत्किं तु 'तिय एव साहस्योपगमदो द्वादशाहीनस्य' इत्यत्र
क्षुत्तौ, 'अहीनपदस्य' अहं ख क्रतौ' इति सूत्रेण स्वस्येनादेशे
क्रतुविशेषे स्थयोदात्तस्वरणाभिधानियम्यते । आशुदात्तस्वरणां नहीन-
अहीन इति नञ् समासे । अति शब्देनाभिधान्योपदेशादयो गृह्यान्ते ।

अभिगमस्तु हस्तादिव्यापारः विवक्षितार्थकारप्रदर्शकः। उपदेशस्य सामान्यतयापेदेशात् विशेषविवक्षितार्थस्य निर्देशः। शृङ्गाहिकर्यति शृङ्गेण शृङ्गिणा महिषगवादीनां ग्रहवत् सामान्येन विशेषस्य लाभः। तत्राभिगमस्योदाहरणं यथा परारिसदृशितं इति।

कुचौ परतः कियन्तौ भवेताम्। यौ परारि सर्वप्रथमतया, सनिवेशमात्रं दर्शयतः तदनन्तरं परात् सरोजकोशं पराभवतः, पुनः ऐशम्, इमौ इयन्तौ खतः।

एतत्काले परिमाणविशेषप्रदर्शकस्य हस्तस्य व्यापारेण इयन्तौ पदस्य परिणामविशेषे अभिधानियम्यते। उपदेशस्योदाहरणम् यथा-
इत स दैत्यः प्राप्त श्री

स दैत्यस्तारकासुरः इतः मत्त एव प्राप्तश्रीरस्ति अतः इत एव मत्त एव क्षयं नास्ति यतोहि विपवृक्षोऽपि सेकादिना सम्बन्धं पुनः लिखन् नास्ति इति।

अत्र इतः पदम्। स्वात्मनिर्देशेन 'इतः' इति 'इतः पदस्य' ब्रह्मणि वक्तुं अभिधानियम्यते।

नानार्थकशब्दो को, विरोध किसी एक अर्थ में, अभिधा का नियमन, सयोगादि से होता है। वे सयोग विप्रयोगादि १४ शब्दतः तथा आदि पद से अभिनय एवं उपदेश परिमणित किए गये हैं। जब नानार्थकशब्द के, समेतित अनेक अर्थों में से, अभिधेय विरोध अर्थ को स्मृति अभीष्ट होती हो तब सयोगादि ही हेतु होते हैं।

अर्थ, प्रयोजन को काते हैं। वक्ता एवं श्रोता के बुद्धिस्थत्व को प्रकरण कहते। नानार्थकपद का जो वाच्यान्तर, उसे अस्वाक्य कर्तने के लिए प्रयुक्त धर्म को लिङ्ग कहते हैं। नानार्थकपदों के अनेक अर्थों में से एक, एक वाच्यार्थ को लिङ्ग परस्पर ससर्ग होता हो वाच्यान्तर का ससर्ग न पड़ता हो ऐसे पदों के समभिव्याहार को शब्दस्यान्यस्य सन्निधि कहते हैं। सामर्थ्य को कारण, औचित्य को अर्हता तथा व्यक्ति को स्वी मुमुपसकलिङ्ग कहते हैं शेष स्पष्ट हैं।

शख यज्ञभरो हरि, 'यहां शखचक्र के सयोग से नानार्थक हरि पद की भगवान् में अभिधानियमित होती है। 'अशखचक्र' कहने पर भी वियोग से यही अभिधा नियमित होती है। 'रामलक्ष्मण' यहाँ नानार्थक राम पद की अभिधा, रघुनाथ में, लक्ष्मण साहाचर्य में होती है। 'छायातपो' में सदानवस्थान रूप विरोधिता से नानार्थक छाया पद की अनातप अर्थ में अभिधा नियमित होती है। 'रामरावणयोः' में वक्ष्यपातकभाव विरोधिता से नानार्थकराम को, रघुनाथ में अभिधा नियमित होती है। इस प्रकार

विरोधिता के दो उदाहरण दिए गये।

'रामार्जुनगतितस्तयोः' में जो यह कहते हैं कि रामार्जुनपदों में वक्ष्यपातकभाव रूप विरोध के कारण परशुरामसहस्रार्जुन की एक मज्जा ही अभिधा नियमित होती है वह उचित नहीं है, क्यों कि रामपद को जब तक परशुराम में अभिधा नियन्त्रित नहीं हो जाय, तब तक उनके विरोध का प्रतिस्नान कर विरोधी सहस्रार्जुन में अभिधा नियमित नहीं हो सकती। वैसे ही अर्जुन पद, को जब सहस्रार्जुन में अभिधा नियमित हो जाय, तदनन्तर इनके विरोध का प्रतिस्नान कर राम पद को भी परशुराम में अभिधा नियन्त्रित हो सकेंगी। अतः अन्योन्याश्रय दोग होगा। इसलिए विरोधिता के उदाहरण में दोनों पदों में से एक पद निश्चित अर्थ वाला होना ही चाहिए। फिर उससे विरोध का अनुस्नान कर दूसरे नानार्थक पद की अभिधा का नियमन करना होगा। इसलिए पहले उदाहृत 'छायातपो' 'रामरावणयोः' ही विरोधिता के उदाहरण ठीक है। रामार्जुन की शब्दान्तर सन्निधि का उदाहरण मान सकते हैं। क्योंकि इसमें अनैकाधिक पदों के कई अर्थों में से केवल एक-एक अर्थ के ग्रहण करने पर ही परस्पर संसर्ग होते हैं। अतः भाग्य तथा कार्तवीर्य रूप एक एक अर्थ लेने पर ही विरोध वश दोनों का संसर्ग हो सकता है। अर्थ का उदाहरण 'हरि मोक्षाय भजत' है मोक्ष रूप अर्थ की सिद्धि के लिए 'हरि' पद का अर्थ भगवान् ही गृहीत होता है। प्रकरण का उदाहरण 'विवेश रामो दुर्धर्ष तापसब्रामर्माण्डलम्' है। यहाँ प्रकरणवश नानार्थक राम पद का अर्थ रघुनाथ में नियन्त्रित होता है।

लिङ्ग का उदाहरण 'कुपितो भूभृत' है। कोपरूप लिङ्ग से नानार्थक 'भूभृत' पद का अर्थ यज्ञरूपार्थ में नियन्त्रित होता है। पर्वत अर्थ को विलुक्त व्यावर्तित कर देता है क्योंकि जब पर्वत में जोग धर्म हो नहीं सकता। 'सयोग' में प्रसिद्धि को प्रचुरता होती है। वह भिन्न अर्थ में भी कदाचित् रह सकता है यही दोनों में भेद है।

शब्दस्यान्यस्य सन्निधि का उदाहरण है 'निषधं पश्य भूभृतम्। यहाँ निषध के अर्थ हैं जनपद तथा पर्वतसंज्ञा एवं भूभृत के अर्थ हैं राजा एवं पर्वत। यहाँ परस्परसंसर्ग नहीं होगा जब पर्वतसंज्ञक निषध को, तथा पर्वत अर्थ वाले भूभृत को ले। अतः निषध पद के सन्निधान से भूभृत का 'पर्वत' अर्थ, तथा पर्वत रूपार्थ से 'निषध' का निषधनामक अर्थ अभिधा से नियन्त्रित होता है। यहाँ अन्योन्याश्रय नहीं हो सकता क्योंकि अन्योन्याश्रय तब होता, जब समभिव्याहृत पद से ही तदर्थ का प्रतिपादन होता, यही तो स्वार्थ के साथ गृहीतसंसर्ग वाले अर्थ में व्युत्पन्न, जो शब्द है उसका समभिव्याहार मात्र है। सम्बन्धितर्शने से जब सम्बन्धयन्ता का संसर्ग होता हो तो अन्योन्याश्रय कैसे होगा, अन्योन्याश्रय तो तब

होता जब सम्बन्धदर्शन के बाद उसके सम्बन्ध का ही स्मरण होता है। निषध भूभृत होनेपर से गृहीत सम्बन्धवाले स्वार्थ प्रतिपादक दोनों का सम्बन्धवादात्त मात्र अभिधा नियमन में कारण है। उन उन अर्थों के प्रतिपादन को यहाँ अपेक्षा ही नहीं होती।

यदि यहाँ यह कहे कि शब्दचक्रवर्ती हार इस संयोग के उदाहरण में भी शब्दचक्रवर्ती शब्दान्तरसन्निधि से ही, हरिपद को विष्णु अर्थ में अभिधा नियमित हो सकती है। फिर संयोग के उदाहरणों को अस्वाभाविकता से क्या आवश्यकता। तो यह उरी कहा सकते, क्योंकि शब्द चक्रवर्ती शब्द निश्चितार्थक है नानार्थक नहीं। उसके सुनते ही निश्चित अर्थ के बोध के बाद उस अर्थ के संयोगादि से नानार्थक भी अभिधा नियमित हो सकती है। अस्तु संयोग का उदाहरण यह भले हो किन्तु आप के शब्दान्तरसन्निधि का उदाहरण भी तो ही जायेगा क्यों कि गृहीतसंसार वाले अर्थ को सन्निधि तो है ही। इसके विषय में यह कहना है कि चक्रवर्तिसन्निधि जो संयोगसम्बन्ध वह वाचकतया अव्यवहित भी है अतः अन्तरङ्ग है। शब्दान्तरसन्निधि में रहने वाले आर्थ सम्बन्ध को अपेक्षा। अतः 'असिद्धावहिरहृत्परङ्ग' से अन्तरङ्ग संयोगादि से ही 'हरि' पद को अभिधा का नियमन हो जायेगा अतः शब्दान्तर सन्निधि का उदाहरण यह वही हो होगा। निषध पश्य भूभृतम्' उदाहरण में दोनों भेद नानार्थक होने से किसी भी अर्थ को पहले उपस्थिति नहीं होती अतः कदाभी अर्थों में रहने वाला सम्बन्ध सर्वथा वरिद्ध तथा आर्थ है, अतः उसका उदाहरण यही हो सकता है। इस प्रकार संयोग तथा शब्दान्तरसन्निधि में संकर नहीं है।

शब्दान्तर सन्निधि का स्वरूप जो निश्चित अर्थ वाले शब्द के साथ नानार्थक का सामानाधिकरण्य मानते हैं तथा, देवस्य विपुलरातेः उदाहरण देकर निश्चितार्थक विपुलराते के सम्बन्धवादात्त नानार्थक 'देव' शब्द का शङ्कर अर्थ में नियमन करते हैं वह युक्त नहीं है क्योंकि इसका तो लिङ्ग में ही नियमन किया जा सकता है। क्योंकि नियमावर्त विपुलराति शिव का असाधारण नाम ही है। अथवा ऐसा कहा सकते हैं कि लिङ्ग आदि के उदाहरण में भी शब्दान्तर सन्निधि ही नियामक होगी। यदि यह कहते हैं कि नियतार्थक के साथ सामानाधिकरण्य स्थिति से शब्दान्तरसन्निधि तथा वैयधिकरण्यस्थिति में लिङ्ग नियामक होगे जैसे कृपितः भूभृत उदाहरण में 'भूभृतः' कोयः यह विवरण करने पर 'कोप' भूभृत का लिङ्ग होता है, शब्दान्तर सन्निधि में ऐसा विवरण नहीं कर सकते, अतः यहाँ दोनों में भेद है, तो यह नहीं कहना चाहिए। यह भेदकथन युक्त नहीं है। यह केवल परिभाषा मात्र है वस्तुतः दोनों स्थानों पर शब्द से प्रतिपादित लिङ्गादि से ही नियमन हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि यदि शब्दान्तरसन्निधि में भी एक पद नियतार्थक ही मानते हैं तो नानार्थक दोनों पदों के नियमन में कोई नियामक नहीं होगा। फिर ऐसी स्थिति में 'ब्याल' दानेन राजते' इस उदाहरण में कौन नियामक होगा। क्यों कि 'ब्याल' एवं 'दान' दोनों अनियतार्थक हैं तथा दोनों का वैयधिकरण्येन सम्बन्धवादात्त भी है फिर 'ब्याल' का अर्थ टुटगज तथा 'दान' का अर्थ मदराज नियन्त्रित कैसे होंगे और दोनों नियन्त्रित होकर संयोग होते हैं यह सर्वानुभवसिद्ध है। इस प्रकार ऐसे स्थल का बिना संग्रह किया नियामकों का लक्षण कथन अत्यन्त अनुचित होगा। इसलिए शब्दान्तर सन्निधि, भेद लक्षण के अनुरूप करना चाहिए जिससे इन स्थलों का भी संग्रह हो जाय।

सामर्थ्य का उदाहरण है 'मधुना गन्तः कोकिलः'। कोकिल के मद कारणत्व के सामर्थ्य से नानार्थक 'मधु' पद को अभिधा वसन्त रूपार्थ में नियमित होता है।

औचित्य का उदाहरण 'भजत हरिभक्ततापखिन्नाः' है। सांसारिकतापखेदहरण रूप औचित्य से नानार्थक 'हरि' पद को अभिधा लक्ष्मीपति में नियमित होता है।

इस प्रकार, अर्थ सामर्थ्य तथा औचित्य में परस्पर भेद इस प्रकार समझना चाहिए। अर्थ के उदाहरण में प्रयोजन का निर्देश चतुर्थ विभक्ति से किया जाता है सामर्थ्य के उदाहरण में कारणत्व का निर्देश तृतीया विभक्ति से किया जाता है, तथा औचित्य के उदाहरण में दोनों विपरिन्तजों के निर्देश को विना, योग्यता (औचित्य) मात्र से, सम्बन्धवादात्त से कव्य कार्यकारणभाव का अवगम होता है। देश का उदाहरण 'क्षीरार्णवः हरिः शेतः' है। तथा काल का उदाहरण 'प्रलयं तिष्ठति हरिः' है। दोनों स्थानों पर नानार्थक 'हरि' पद को अभिधा का नियमन क्रमशः क्षीर सागर स्थान, तथा प्रलयकाल में होता है। व्यक्ति का उदाहरण 'मित्रो भावि' है। यहाँ पुल्लिङ्ग मित्र का अर्थ मूर्ध ही होता है सुख नहीं। क्योंकि मुखल शब्द में नपुंसकलिङ्ग मित्र शब्द है। स्वर का उदाहरण 'तिस्र एव साहजस्योपमस्यो द्वादशाशीनस्य' यह श्रुति है। यदि यहाँ 'अहीन' पद में मरु या उदालस्वर ही तो उससे कतुविशेष रूप अर्थ में अभिधा नियमित होगी। क्योंकि 'अह' ख क्रतौ' इस सूत्रानुश्रय से स्वप्रत्यय के स्थान पर ईद्विदेश होकर, सिद्ध, 'अहीन' शब्द का स्वर मध्योदात्त होगा। जब यहाँ 'न हीन' 'अहीन' ऐसी व्युत्पत्ति कर ले तो नवतत्पुरुष अहीनपद का स्वर, आदि उदात्त होगा। इस प्रकार स्वरविशेष से प्रत्ययार्थक कतुविशेष, तथा समासार्थक अहीनार्थविशेष का अर्थ नियमित होता है। अतः स्वर भी नियामक है।

आदि पद से अभिनय एवं उपदेश को ग्राह्य करते हैं। विवक्षित अर्थ

के आकार आदि का प्रदर्शक हस्तादिव्यापार अभिनय है तथा विवक्षित अर्थ का सामन्ततया निर्देश, उपदेश कहा जाय। उप का अर्थ समीप स्वार्थसमीपस्य सामान्यादि से विशेषादि का बोध उपदेश है। जैसे शृङ्गिणी का सामान्य, शृङ्गपद से ग्रहण कराया जाय।

उनमें अभिनय का उदाहरण जैसे — परारि संदर्शित। सर्वप्रथम जो दोनों कुच, सन्निवेश मात्र को दिखलाते थे वही बाद में सरोज मुकुल को शोभा को पराभूत किए। वही इस समय इतने इतने हो गये है। बाद में वे दोनों कुच कितने बड़े होंगे।

यहाँ 'इत' से बोध्य जो हस्त व्यापार है वह एतत्कालस्तनपरिमाण विशेष का प्रदर्शक है अति इयत् पद को अभिधा, अभिनय से परिमाणविशेष में नियमित होती है।

उपदेश का उदाहरण जैसे — इतः स दैत्यः। वह तारकासुर दैत्य यहाँ से श्रोत्राग्र कर बढ़ा है अतः यहाँ से उसका ध्य होना उचित नहीं है। क्योंकि विपुलशो भी यदि संवर्धित कर दिया गया हो तो उसका स्वयं से लेदन अनुचित होता है। यहाँ 'इतः' स्वात्मनिर्देश से इतः शब्द को वक्ता ब्रह्मा में उपदेश से अभिधा नियमित होती है।

यत्र त्वनेकशक्तस्य शब्दस्याभिधानियामकमनेकत्रा-
विशिष्टमर्थे, तत्र नान्यतरस्मिन्भिधा नियम्यते। यथा-
'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरास्वीकृतो
यश्चोद्धतभुजङ्गहारवलयगङ्गां च योऽधारयत्।

यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः,
प्रायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्तां सर्वदोमाधवः॥'

अत्र शिव-केशवयोरपि स्तुत्यतया प्रकरणमविशिष्टम्।
अतः- 'ध्वस्तमनोभवेन=नाशितमन्मथेन, बलिजित्कायः =
विष्णोर्विग्रहः, पुरेष्कृतां नीतः, यश्चोद्धतशेषवासुकिप्रभृति-
नागराजसंपादितहारवलयकृत्यः, यश्च गङ्गामधारयत्, यस्य
शिरः शशिमदाहुमराः स्तुत्यं नाम च हर इत्याहुः, अन्धका-
सुरक्षयकरः, स उमाधवस्त्वां सर्वदा पायात्' इति। 'अभवेन
निःससारेण येन, अनः शकटं ध्वस्तम्, येन च बलिजित्स्वस्य
कायः पुरामृतमथने स्वीत्वं नीतः, यश्चोद्धतं भुजङ्गं कालिय
हतवान्, रवे शब्दब्रह्मणि लयस्ताद्रूप्यापत्तिरस्येति रवलयः,

उद्धतभुजङ्गान् हतवदारवल्यं चक्रमस्येत्येकं पदं वा, अगं
गोवर्धनं गां बराहावतारेण भूमिं च योऽधारयत् यस्य स्तुत्यं
नाम शशिमच्छिरोहर इत्याहुः शशिनं मन्थाति यो राहुस्तच्छिरोहर
इति, अन्धकानां राज्ञां क्षयकरो निवासकृत्, सर्वदो माधवस्त्वां
पायात्' इति चार्थद्वयेऽप्यभिधैव व्यापारः। अत एवात्र
श्लेषोऽलंकारः।

यत्र नानार्थकस्य अनेकत्रार्थे अविशिष्टं संयोगाद्यभिधानियामकं,
न कमप्यर्थं विशिनष्टि तदानीमेकस्मिन्मर्थे अभिधा न नियम्यते यथा
येन ध्वस्तमनोभवेन इति।

अत्राभिधानियामकं प्रकरणमविशिष्टम्। अत्र शिवकेशवयोर्द्वयोरपि
स्तुतिः प्रकृता। तत्र शिव पक्षे-

अन्धकासुरक्षयकरः उमाधवः सर्वदा त्वां पायात् रक्षेत्। कीदृशः
स, ध्वस्तमनोभवेन भस्मीकृतकामेन येन शिवेन पुरा विपुरविनाशो,
बलिजित्कायः - बलिजितो तिष्णोः शरीरं अस्वीकृतः आयुधी-
कृतः तथा च उद्धृतभुजङ्गः विकटसर्पाः, हारो वलयश्च यस्य
सः, हारवलयीकृतविकटभुजङ्गः, गङ्गां च यो शिरसा अधारयत्,
यश्च, शशिमत् शिरो यस्य स, चन्द्रमौलिरित्यस्ति। यस्य नाम
अमरा 'हर' इत्याहुः, इति।

केशवपक्षे अन्धकानां वृष्णीनां (क्षयः गृहं निवासोवा) क्षयकरः
निवासकृत् माधवस्त्वां सर्वदा पायात्। कीदृशः स इति -

येन ध्वस्तमनोऽभवेन, अभवेन अजेन अनः शकटं, (शकटासुरः)
ध्वस्तम् विनाशिवन्म्। तथा येन स्वस्य बलिजित् कायः, पुरामृतमथने
स्वीकृतः। यश्च उद्धृतभुजङ्गान् महोदधानां भुजङ्गान् हतवान् इति
उद्धृतभुजङ्गता, तथा च रवे शब्दब्रह्मणि लयं यस्य स रवलय
अस्ति। अथवा भुजङ्गहारवलयः इत्येकपदत्वे आरवलयं चक्रमित्यर्थः
भुजङ्गान् हतवदिति भुजङ्गहन् आरवलयं यस्य सः इत्यप्यर्थः। अगं
= पर्वतं गां-पृथ्वीं च योऽधारयत्। क्रमेण कृष्णमुकरावतागम्।।

यस्य अमराः, 'शशिमच्छिरोहर' इति नाम आहुः। शशिनं
मन्थाति इति शशिमत्, राहुः, तस्य शिरोहर इति।

अत्रार्थद्वयेऽपि प्रकरणाद्यभिधादभिधैव। अत एव श्लेषालङ्कारः।
जहाँ अनेकार्थक शब्द, अनेक अर्थों में प्रकरणादि से विशिष्ट न हो

वहाँ किसी एक अर्थ में अभिधा का नियमन नहीं होता है। जैसे येन चरसमतोऽप्येव ।

यह उमाधन शङ्कर सर्वदा तुलसी रखा करें, कामध्वंसक निराश्रित के द्वारा विपुलदाह के समय विष्णुगरीर अस्त्र बनाया गया था जिनके तार एवं कुङ्कुमा भवकर सर्प हैं जिन्होंने गुह्य को धारण किया है जो लन्दकलपयुक्त शिर वाले हैं देवताओं में जिसका मूल्य नाम 'हर' ऐसा कहा है तथा जो अम्बकासुर के विनाशक हैं।

विष्णु पक्ष में वह माधव आपकी रखा करें, अथवा, अजन्मा, जिन्होंने शक्त्यासुर का वध किया है जिन्होंने राजाबलि को जीतने वाले अपने गरीर को, अमृतमन्त्र के समय स्वीकृत में बनाया है जो उदयभुजश्री के विनाशक हैं, शब्द इष्ट (रव) में जिनका लय है जो गोवर्धनपर्वत तथा पृथ्वी को (कण एव सुकरावतार में) धारण किए हैं, देवतागण जिनका मूल्य नाम राक्षसिहोर कहते हैं जो वाष्पिणी (अम्बक) के घर निवास किए हैं। तथा सब कुछ देने वाले हैं।

यहाँ पर जिन रथा केराव दोनों मूल्य हैं अतः प्रकरण तिंशष्ट नहीं है यहाँ दोनों अर्थ में अभिधा व्यापार ही है। इसलिए इसे इलेभालकार कहते हैं।

ननु च यत्रानेकप्रकरणप्राध्विनिष्टम् । तत्र भवत्वनेकप्राध्विधाव्यापारः । यत्र प्रकरणस्य कचिदर्थोऽवस्थितत्वेऽप्यप्राकरणिकं शक्यान्तरं प्रतीयते, तत्र का गतिः ? यथा-

'असावुदयमारूढः कान्तिमान् रक्तमण्डलः ।

राजा हरति लोकस्य हृदयं मुदुभिः करैः ॥

इति चन्द्रोदयवर्णनप्रस्तावे । अत्र ह्यप्राकरणिको भूपतिरभ्युदयादिविशिष्टः प्रतीयते ।

अत्र प्राच्यः - 'तत्र शब्दशक्तिमूलो व्यञ्जनाव्यापार एव शरणम्, व्यञ्जनाव्यापारः । न हि तस्य तत्राभिधा संभवति, तस्याः प्रकरणेन नियन्त्रितत्वात् । नापि लक्षणा, मुख्यार्थ-बाधाद्यभावात् । न चाभिधायी इव व्यञ्जनस्यापि प्रकरणेन नियन्त्रणे तेनापि न तन्निर्वाह इति वाच्यम्, तस्य धर्मिग्राहकमानेन तदनियम्यतरैव सिद्धेः । अत एव काव्यान्तर्निविष्टस्य प्राकरणिकचिदर्थनियताभिधाव्यापारस्याप्यसम्भ्य-पदार्थान्तर-प्रत्ययहेतोः पदस्य हेयत्वम् । अन्यथा तत्राभिधायी इव

व्यञ्जनव्यापारस्यापि प्रकरणेन नियन्त्रणेऽसंभ्यार्थान्तरप्रत्यय-संभवात् 'यस्यानन योनिरुदारबाचाम्' इत्यादावश्लीलदोषो न स्यात् । तस्मात्संयोगादिप्रतिषेधाभावात्प्रल्लिता यत्र कुण्ठतामेति, अर्थान्तरावगमने व्यञ्जनमेव क्षमं तत्र -' इति ।

ननु प्रकरणाद्यभावे भवतु उभयत्राभिधा किन्तु यत्र क्वचित् कान्तिमन्त्रे अर्थे प्रकरणस्य सत्त्वत्वे, अप्राकरणिकं शक्यान्तरं प्रतीयते तत्र का गतिः । अत्र प्रथमं प्राचीनानां मतेन तस्य व्यङ्ग्यत्वं प्रतिपाद्य स्वकीयमतेन तस्याप्यभिधेयत्वमेव प्रतिपादयिष्यन्ताह - यथा- असावुदयमारूढः इति ।

अत्र उदयमभ्युदयञ्च, कान्तिमानिति = तेजस्वी रश्मिमान् च । रक्तइति, अनुरक्तः शोणश्च । राजेति = चन्द्रः नृपतिश्च । करइति, किरणः राजोदयधनञ्च ।

अत्र चन्द्रसम्बन्धिवार्थः प्रस्तुतः, राजसम्बन्धो चाप्रस्तुतः । अत्र प्राञ्चोदयइति - अप्राकरणिके राजसम्बन्धर्थे शब्दशक्तिमूला व्यञ्जनैव शरणम् । तदतिरिक्ताभिधालक्षणागत्यभावात् । प्रकरणेन चन्द्रसम्बन्धर्थे नियमितत्वादभिधायीः सम्भावनैव नास्ति । मुख्यार्थ-बाधाद्यभावात् लक्षणाया अपि ।

ननु प्रस्तुतार्थनियन्त्रकस्य प्रकरणस्य सत्त्वात् कथमप्रस्तुतार्थस्य व्यञ्जनाव्यापारेणापि उपस्थितिर्निरिति न वक्तुं शक्यते यतोहि व्यञ्जनाया न क्वापि नियमनमिति धर्मिग्राहप्रमाणमस्ति । अत एव अभिधाव्यापारेण प्राकरणीकसदृशोऽनपगतग्राहि काव्यान्तर्निविष्टस्य पदस्यासम्भ्य- पदार्थान्तरप्रत्यायकत्वेन हेयत्वं दर्शितम् । चेत् प्रकरणादिना व्यञ्जनाव्यापारस्यापि नियन्त्रणं स्यात्तदानीं कथमसम्भ्यार्थप्रत्ययः स्यात् । तथा 'यस्यानन योनिरुदारबाचाम्' अत्र योनिपदेनश्लीलत्वस्य प्रत्ययः । अतः संयोगादिप्रतिषेधनिवृत्तायामभिधायामर्थान्तरावगमने क्षमं व्यञ्जनसम्बन्धसमाश्रितत्वम् ।

अत्र प्रश्न करते हैं कि जहाँ नानार्थ के अनेक अर्थों में, प्रकरणादि विशेष न हो वहाँ सभी अर्थों में भले ही अभिधा व्यापार हो जाय, किन्तु जहाँ प्रकरण किसी अर्थ विशेष में अवस्थित हो, वहाँ यदि अप्राकरणिक शक्यान्तर की प्रतीति होती हो तो वहाँ किसी स्थिति होगी ? जैसे- असावुदयमारूढः ।

यहाँ प्रकरण में चन्द्रोदय का वर्णन है । यह उदय को प्राच्य रश्मिमान

शोणमण्डल वाला चन्द्र मृदु किरणों से लोगों के हृदय को अधीन कर रहा है।

दूसरा अप्राकरणिक अर्थ राजसम्बन्धी है। अभ्युदय को प्राप्त तैजस्यों, सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने में अनुरक्त रखने वाला, नृप, अनुद्विगकर राजदेय (टैक्स) धन से राष्ट्र के हृदय को वश में कर रहा है।

यहाँ चन्द्र प्राकरणिक तथा भूपति अप्राकरणिक है। यहाँ प्राचीनों का कहना है कि अप्रकृत अर्थ में शब्दशक्तिमूलव्यञ्जना व्यापार ही एकमात्र समर्थ है क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरी कोई गति नहीं है। अप्रकृत अर्थ में अभिधा सम्भव नहीं है क्योंकि वह प्रकरण से नियन्त्रित हो जाती है। लक्षणा भी नहीं हो सकती, क्योंकि मुख्यार्थवाधादि नहीं है। यह नहीं कह सकते कि अभिधा की तरह व्यञ्जना भी प्रकरणदि से नियन्त्रित हो जाने पर उससे भी अप्रकृत अर्थ का बोध नहीं हो सकेगा, क्यों कि धर्मिग्राहक प्रमाण से वह कभी किसी से नियन्त्रित हो ही नहीं सकती। इसलिए काव्य में निविष्ट प्राकरणिक किसी नियतार्थ का अभिधाव्यापार से प्रतिपादक भी पद, यदि असम्बन्ध पदार्थान्तर के प्रत्यय का कारण बनता हो, तो उसे काव्य में हेय माना गया है। नहीं तो अभिधा के समान व्यञ्जना का भी प्रकरण से नियन्त्रण हो जाने पर अर्थान्तर का प्रत्यय नहीं हो सकेगा, जब कि 'यस्याननं योनिरुदावाचाम्' में अरलील दोष का प्रत्यय होता है। इस लिए संयोगादि से जब अभिधा प्रतिबन्धित हो जाती है तब अर्थान्तर के बोध के लिए व्यञ्जना ही समर्थ होती है।

वयं तु ब्रूमः - 'असावुदयमारूढः -' इत्यादौ प्राकरणिकेऽर्थे प्राकरणिकवदप्राकरणिकेऽपि 'राजकरमण्डलादिशब्दानां परस्परान्वययोग्यनृपपतितद्ग्राह्यधनदेशादिवाचकानां सर्वाभि-
व्याहाररूपमभिधानियामकमस्तीत्यर्थद्वयस्यापि प्राकरणिकत्व इव प्राकरणिकाप्राकरणिकरूपत्वेऽप्युभयत्राभिधैव व्यापारः, यथोक्तसमभिध्याहारस्यापि शब्दान्तरसंनिधिरूपत्वेन प्रकरणवदभिधानियामकत्वात्। यैस्तु शब्दान्तरसंनिधिरन्वथा निरुच्यते, तैरपि यथोक्तसमभिध्याहारेण नानार्थशब्देष्वोऽर्थप्रत्ययस्य सर्वसिद्धत्वेन तस्य तद्भेदेनापि नियामकत्वमा-
स्थेयमेव। वस्तुतोऽयमेव शब्दान्तरसंनिधिरित्युक्तम्। न चाप्राकरणिके उक्तरूपशब्दान्तरसंनिधिमाम्नाम्, प्राकरणिके तज्ज्व प्रकरणं चेति नियामकाधिक्रियात्तत्रैवाभिधा स्यादिति

वाच्यम्, प्रकरणादीनामभिधानियामकत्वं हि नानार्थशब्दजन्य-
शक्यस्मृतौ तेषामन्यतमकारणत्वम्। यथोक्तम्- 'शब्दार्थस्यान-
वच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः' इति। तथा च तेषु कस्यचिदपि
समवधाने स्मृतिसामग्री युष्कलंवेति किं तद्बाहुल्येन?

यत्रैकमेव पदं नानार्थमप्राकरणिकेऽपि तात्पर्यवत्। यथा-

'करोति कंसादिमहीभृतां वधाञ्-

जनो मृगाणामिव यत्नव स्तुतिम्।

हरे हिरण्यक्षपुरः सुरासुर

द्विपद्विपः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया।'

इत्यत्र 'हरि'पदम्। तत्रापि समभिध्याहृत 'द्विप' पदप्रतीत-
गजविरोधादिकमप्राकरणिके विहेऽप्यभिधानियामकमस्त्येव। यत्र
तु 'यस्याननं योनिरुदावाचाम्-' इत्यादावश्लीलं नैतादृशं
नियामकम्, तत्रापि बुभुत्सितार्थव्यासक्तस्य मनसस्तनु-
ल्लङ्घ्यबासभ्ये दुर्गन्धादौ प्रवृत्तिवत्प्रकरणनियन्त्रितस्यापि
शब्दस्य तदुल्लङ्घ्यविषयस्वाभाव्यादश्लीलं प्रवृत्तिरिति न
कापि शक्तिविषये व्यक्तितरङ्गीकरणीया। यदि चैवविधानि
नियामकानि नाद्विपरन्, तदोदाहृतस्थलेषु व्यञ्जनव्यापारोऽपि
दुर्ग्रहः। तथा हि-प्रकरणादिकमुल्लङ्घ्य व्यञ्जनव्यापारेणाप्य-
र्थान्तरप्रत्ययो न सर्वत्र वक्तुं शक्यते, प्रकरणादीनामभिधा-
नियामकत्वकल्पनस्यैव व्यर्थत्वापत्तेः। तदिदं नादृष्टार्थम्, किंतु
'सैन्धवमानय' इत्यादावैकार्थमात्रपरनानार्थशब्दस्थले अर्थविशेष-
स्मृतिव्यवस्थार्थं तत्। यदि तत्रापि व्यञ्जनव्यापारेणार्थान्तरप्रत्ययः
स्यात्, तदा कथमेषा सिध्येत्। न ह्यभिमतानभिमतक्षेत्रसा-
धारणस्य जलाशयस्याभिमतक्षेत्रगामिनीमेकां कुल्यां विधा-
यानभिमतक्षेत्रगामिनः कुल्यान्तरस्यापि कल्पने जलस्याभिमत-
क्षेत्रैकगामित्वव्यवस्था कृता भवति। तथा च यत्र
कवयितुश्चमत्कारायाप्राकरणिकेऽप्यर्थे तात्पर्यम्, यत्र
वाश्लीलदोषः, तत्रैव व्यञ्जनाव्यापारोन्मेषः, न सर्वत्रेति

तद्व्यवस्थासिद्धये तत्र तत्र नियामकान्यस्मदुक्तानि अन्यादृशानि वावश्यमादर्थव्यानि तेषां चाभिधानिनियामकत्वमेव वक्तुं शक्यमिति। व्यर्थस्तत्र व्यक्तिव्यवस्थापरिश्रमः, दुर्वारश्च तत्र व्यक्तिवादमितेऽप्यभिधायीपरः।

दीक्षितो वदति = एतदहं नानुमन्वे अतः ब्रवीमि। शब्दान्तर-
सन्धिः स्वरूपं यन्मया प्रतिपादितम् तदनुसारिणात्रोभयत्रायर्थेऽ-
भिधैवार्हा। असावुदयमारुहः इत्यादौ प्राकणिकेऽर्थे
प्रकरणवदप्राकणिकेऽपि राजादिशब्दानां नृपतिवदयमात्रादिवाचिना
समाभिधायारूपस्य शब्दान्तरसन्धिर्बोधात् परम्परान्वययोगशयो-
कभयोरर्थयोरभिधानियामकत्वात्तदभिधैव भन्तु योत्या।

ननु भवत्त्वक्षणावरूपशब्दान्तरसन्धिरेव नास्ति, एकस्य पदस्य
व्यवस्थितार्थत्वं तत्रान्यैरिच्छ्यत इति चेत्, तदानीं ते प्रख्याः
“व्यालो दानेन राजते” इत्यादौ समाभिधायारेण नानार्थशब्देभ्योऽर्थ-
प्रत्ययस्य सर्वसिद्धत्वात् अत्र किं नियामकत्वमास्थीयते भवदुभ ।

अस्तु अत्र शब्दान्तरसन्धिना अप्राकरणिकेऽर्थेऽभिधानियमनम्
किन्तु प्राकरणिकेऽर्थे प्रकरण- शब्दान्तरसन्धिर्नव्याभ्यासयामनम्
नियामकचिकित्सात्तत्रैवाभिधानियमनं सन्तव्य न केवलशब्दान्तर-
सन्धिरेवैतदपि न वक्तुं युक्तम्, यतो हि समयमात्रिभूप्रत्येकस-
माभिधानियमनाय कारणमित्येव कारिकाया दर्शितम्। यथोक्तम-
‘शब्दादर्थस्यावच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः’ इति। अतः कस्यचित्देव
समवधाने स्मृतिसामग्र्यो युक्तलक्षिते किन्तत्र द्वित्रिचतुर्भिरिति।

इत्थं नानार्थकानेकपदानामप्राकरणिकेऽर्थेऽपि अभिधा निरूपिता।
यवैकमेव पद नानार्थं तस्याप्राकरणिकेऽपि अर्थे तात्पर्यं दृश्यते।
यथा= करोति कसादिमहोभूता।

हे हे मृगणामिव कसादिमहोभूता वधात् कश्चन जनो यत्तव
स्मृतिं करोति सा तव स्मृतिर्न, प्रत्युत द्विगम्याहाससुराजानां हनुस्ते
तिरस्त्रिया।

अत्र नानार्थक हरि पदस्याप्राकरणिके सिद्धे तात्पर्यम्, असुरेण
द्विप्रापेतात्। समाभिधायद्विपदप्रतीतस्य भवविरोधितया नियामकत्व
मप्राकरणिके सिद्धेऽपि लभ्यते न केवलं प्राकरणिके।

यत्र तु समाभिधायद्विपदप्रतीतविरोधादिनियामकं नोपलभ्यते तत्रापि

व्यञ्जनाया रवीचनेऽस्तीकरणेयम्। यथा ‘तस्यैवने योनिरुदयमात्रम्’
इति। अत्र नानार्थप्रत्यायकत्वयोनिपदस्य संयोगादिना नियामकत्वा-
भावेऽपि अभिव्यक्तप्राकरणिकार्थबोधः चरणीयः। नास्ति विशेषार्थं
बोद्धुमिच्छु मनः यथा योनिपदस्यकारणार्थमुल्लङ्घ्य दुर्गत्यादौ प्रवर्तते
तथैव प्रकरणनियन्त्रितस्यापि शब्दस्य प्रकरणमुल्लङ्घ्य विषयस्वा-
भाव्यादश्लेले प्रवृत्तिरित्यत्रापि न व्यवर्ततेविषयता अतः शक्ति
विषये न क्वापि व्यक्तिस्वीकरणीयः।

नियामकादराभावे, नियामकं विना अप्राकरणिके व्यञ्जनव्यापारो
दुर्गोभविष्यति। पुरश्च नृपत्वात्-प्रकरणवदमुल्लङ्घ्य, व्यञ्जन-
व्यापारेण योऽर्थोऽन्यप्रत्ययः, न सर्वत्र भवति क्वाचिद्वत्। यत्र
इति न वक्तुं शक्यते, सर्वार्थान्तरप्रत्यये प्रकरणदीनानामभिधा-
नियामकव्यञ्जननैव व्यर्थम्। ननु न व्यर्थं तस्यैव दृष्टं प्रयोजनम्,
यदा सैकत्वानयम् इत्युच्यते, तदानीं नानार्थकमेकवदशब्दस्यैवार्थ-
मात्रपरत्वमैवाधीवेशेण स्मृतिचक्रस्था जायते, अतः प्रवृत्तिनिमित्तार्थ-
विशेषव्यवस्थार्थानां भवति प्राकृतकत्वव्यवस्थेति तदपि न। यदि अत्रापि
व्यञ्जनव्यापारेणार्थान्तरप्रत्ययो भवेत् तर्हि कर्मप्राप्तिं व्यवस्था
यिष्येत। तर्हि अभिधाननैवैकवदशब्दप्रत्ययस्य लब्धशब्दार्थ-
नानार्थकशब्दस्य प्रवृत्तिर्वाच्यते। अत्रानिर्वाहार्थमात्रेणैकवदशब्दस्यैव
प्रकृत्याप्रवृत्तिरुपायार्थमात्रेणैव तदपि न। व्यञ्जनव्यापारव्यापार-
प्रकृत्यापि नानार्थकत्वस्य प्रवृत्तिरिति तदवस्थान्तरात्प्रवृत्तिव्यवस्थेति
भवितुमर्हति। इत्थं सर्वत्र व्यञ्जनव्यापारेणार्थ- धर्तान्तरप्रत्ययः दुर्गोभ-
न सर्वत्रापि न वक्तुमिच्छति यथे = यत्र कदाचित्प्रवृत्तिव्यवस्थाया-
प्राकरणिकेऽर्थे तात्पर्यं वा व्यवस्थितोपायमेव व्यञ्जनव्यापारेण्येत,
न सर्वत्रैव तद्व्यवस्थासिद्धये तत्र तत्र नियामकतायुक्तानि
वाऽनुक्तान्यन्यादृशानि वावश्यमादर्थव्यानि इत्यपि न वक्तुं शक्यते
सतोहि अनुपदमेव ‘करोति कसादि’ तथा न = यस्याननम्
इत्युभयत्र व्यक्तिव्यवस्थापरिश्रमस्य व्यर्थत्वं दर्शितम्। एषु स्थलेषु
व्यञ्जनव्यापारो भवेऽपि अभिधायीव्यापारो युक्तयुज्यते।

अप्यस्य दीक्षित करोति है कि - वेता मत इसके विरुद्ध है। जैसा कि
‘असावुदयमारुह’ स्थल में प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक दोनों स्थलों में
शब्दान्तरसन्धिकरूप समाभिधायार, के कारण अभिधा ही है। अन्वयवृद्ध
आदि शब्द के प्रत्यय अवयवोंमें पुनर्ति तथा उससे प्राप्त सनादि के

जाचकों से अन्यत्र होता है, जैसे ही इस अप्रकृत अर्थ में भी समर्थित्ववाहाय रूप है, अधिधा का नियामक है अतः दोनों प्रयुक्त एवं अप्रयुक्त, प्रयुक्त ही भी जायेगा तथा दोनों में अधिधा व्यापार होगा। समर्थित्ववाहाय शब्दान्तरसन्निधिरूप बतलाया जा चुका है, अतः यह भी प्रकरण की तरह अधिधा का नियामक है। जो लोग शब्दान्तर सन्निधि का लक्षण भिन्न लक्षण में भिन्न करते हैं तथा एक व्यवस्थितार्थक पद लेते हैं उन्हीं भी व्यापार होने गजने इत्यादि मानार्थकपदों से सर्वसिद्ध, अर्थात् के प्रत्यय के लिए अपने लक्षण में भिन्न लक्षण मानना ही होगा। तस्मैतु यही मानार्थक दोनों पदों वाले, स्थल ही शब्दान्तर सन्निधि के स्थल है।

अब यदि यह कहे कि 'व्यापार होने' उदाहरण में अप्राकरणीक अर्थ में ही शब्दान्तर सन्निधि मात्र है किन्तु 'असम्बद्धभावात्' से प्रकरण तथा शब्दान्तर सन्निधि दोनों हैं अतः नियामक के अधिक्य से प्रकृत में ही अधिधा मान ली जावे, या तब नहीं कह सकते, क्योंकि मानार्थक शब्द जन्म स्मृति में संयोग, प्रकरणदि में से, किसी एक को ही अधिधा का नियामकत्व माना गया है जैसा कि कहा गया है शब्दार्थ के स्पष्ट में ये संयोगादि कारण हैं। यही तैत्तिरीय में अलग-अलग कारणों स्पष्ट है। इस प्रकार किसी एक के रहने पर ही अर्थभूमि में पुष्कल नियामक सामग्री ही जाती है फिर कौन की क्या आवश्यकता।

जहाँ एक ही मानार्थक पद, अप्राकरणीक अर्थ में भी तात्पर्यवान् है वहाँ अप्रकृत में भी अधिधानियामकत्व है ही। जैसा कि कयोक्त कर्मादि मही _____

ले रहे। मृग के समान किसी राजाओं के वध के कारण जो लोग आप की स्मृति करते हैं, वह, हिमयशस्वि अमर कणों हाथों के शत्रु हरि रूप आपकी स्मृति न होकर तिरस्क्रिया ही प्रतीत होती है।

यहाँ सिद्ध तथा विष्णु आदि का वाचो मानार्थक 'हि' पद है। समर्थित्ववाहाय दिव्य (शत्रु) पद से प्रतीत गजविरोधप्रति, अप्राकरणीक सिद्ध में ही अधिधा को नियमित करता ही है।

जहाँ अश्लील स्थल में इस प्रकार के नियामक नहीं प्रतीत होते हैं जैसे 'सम्माननं योगिकतत्वाचाम्' आदि है वहाँ भी जैसे अर्थबोध का इच्छुक मन, अधिधेयार्थ यदायं को छोड़ कर उसका दुर्गन्धिदि में प्रवृत्त होता है वैसे ही प्रकरण नियमित भी शब्द, प्रकरण का उल्लङ्घन कर विषय स्वभाव तथा अश्लील अर्थ में भी प्रवृत्त हो ही जाता है अतः शक्ति के विषय में व्यञ्जित नहीं माननी चाहिए। यदि इस प्रकार के नियामकों का आहार ऐसे स्थलों में नहीं करते हैं तो व्यञ्जनाव्यापार का वह भी लक्ष्यवाच्यता जायेगा तथा प्रकरणादि का उल्लङ्घन कर अप्रकृतार्थ के लिए सर्वत्र व्यञ्जना व्यापार से भी अप्रत्यक्ष नहीं किया जा सकेगा।

क्योंकि जब सर्वत्र अप्राकरणीक अर्थ का प्रत्यय करना ही है, तो अधिधा के नियामकत्व की कल्पना ही व्यर्थ है।

यदि यह कहे कि ऐसा नहीं है क्योंकि अधिधा में नियामकत्व का दृष्ट प्रयोजन भी है जैसे 'सम्बन्धमानय' इस उदाहरण में मानार्थक सम्बन्धपद का एकार्थमात्रपरत्व ही है। क्यों कि अर्थ विशेष स्मृति की व्यवस्था के बिना आवश्यकतें इच्छित नहीं हो सकती अतः प्रकरण से अधिधा का नियमन दृष्टप्रयोजनवाला है, तो इस पर यह कहना है कि यदि व्यञ्जना व्यापार से भी अर्थान्तर अप्रकृतार्थ का प्रत्यय होता हो रहता है तो भी यह व्यवस्था कैसे सिद्ध होगी। क्योंकि एक ऐसा जलशय है जिसका जल अभिमत क्षेत्र एवं अनभिमत क्षेत्र दोनों में जा सकता है। अभिमत क्षेत्र में जाने के लिए एक बाड़ी का निर्माण कर दिया जाय, तथा अनभिमतक्षेत्र में जाने के लिए भी एक दूसरी बाड़ी का निर्माण कर दिया जाय, भी कैसे कह सकते हैं कि अभिमतक्षेत्र में ही जल के जाने की व्यवस्था है। अतः अधिधा एवं व्यञ्जना रूप दो नालों के रहते हुए मानार्थकशब्द, जो सम्प्राप्त जलशय के समान है, उसका एकार्थमात्र परत्व या एकक्षेत्रमात्र गमित्व कैसे व्यवस्थित किया जा सकता है।

यदि यह कहे कि सर्वत्र नहीं, कहीं-कहीं जहाँ पर चमत्कार के लिए अप्राकरणीक अर्थ में भी कवि का तात्पर्य हो, अथवा जहाँ अरलील रीति होता हो वहाँ व्यञ्जनाव्यापार को माना जाय, इस व्यवस्था के लिए हमारे द्वारा उक्त नियामकों को अथवा दूसरे प्रकार के भी नियामकों को मानना ही चाहिए। जो वह कहना भी व्यर्थ है क्योंकि 'करोतिर्कर्मदि' में तथा 'सम्माननं योगिकतत्वाचाम्' दोनों उदाहरणों में अधिधा से ही अप्रकृतार्थ के प्रत्यय की व्यवस्था बनाने की गयी है, व्यञ्जना की कल्पना का परिश्रम व्यर्थ है ऐसे स्थलों में व्यञ्जनावाचियों के द्वारा भी अधिधा व्यापार का न मानना कठिन होगा।

तथा हि- यदि शक्तिरभिधा, निर्विवादमस्यैवाप्राकरणीकेऽपि सा। यदि च काव्यप्रकाशिकाद्युक्तरीत्या शक्यार्थ-प्रतिपादकत्वरूपः शब्दव्यापारः, सोऽप्यस्त्येव। न हि तत्रा-प्राकरणीकशक्यप्रतिपत्तेः शब्दादव्यञ्जनकम्। शक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादकत्वमभिधा इति चेत्। अत्राप्राकरणीकेऽर्थः, तत्रागृहीतशक्तिरस्याभिधया किं न प्रतीयते, येन स तत्र न स्यात्। ननु शक्यता साक्षात्प्रतिपादकत्वमभिधा। साक्षादित्यविशेषणं मुख्यार्थशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादनव्यवधानेन

तत्संबन्धयर्थान्तरप्रतिपादनरूपाया लक्षणाया अप्यभिधा-
त्वप्रसङ्गात्। तथा च प्रागेवानुवर्तमानेन प्रकरणेन तत्प्रमेयोपस्थापनं
शीघ्रभावीति तद्व्यवधानेनार्थान्तरप्रतिपादनं नाभिधा इति चेत्,
न। 'तद्विषयशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादनमभिधा' इति लक्षणं
विनैव साक्षात्त्वविशेषणं साधु, अनतिप्रसङ्गात्। तत्पदरूपेण
पदभङ्गकृतपदान्तररूपेण बार्थान्तरप्रतिपादनव्यवधानाभाव-
रूपसाक्षात्त्वविशेषणस्य गुरुत्वात्। तथाविशेषणे 'येन ध्वस्त-
मनोभवेन-' इत्यादौ धूर्जटियक्षे-स्फुटपदसंबन्धितया प्रसिद्धि-
प्राचुर्येण च झटित्यर्थप्रतिपत्तिः। बैकुण्ठपक्षे - 'येन
ध्वस्तमनोभवेन-' इत्यादावस्फुटपदसंबन्धितया 'शशिमच्छिरो-
हरः, अन्धकक्षयकरः' इत्यनयोरप्रयुक्तनिहतार्थत्वेनाप्रसिद्धतया
च विलम्बेन प्रतिपत्तिरिति सर्वसिद्धत्वेन तत्राभिधाविषयेऽपि
तदभावापत्तेः। प्रकृताप्रकृतोभयपरे यत्राप्रकृते प्रसिद्धतरम्,
प्रकृतेऽप्रसिद्धतरं पदम्, तत्र प्रसिद्धप्राचुर्येणप्रकृतार्थप्रतीतेरेव
प्राथमिकत्वेनाप्रकृतेऽभिधा, प्रकृते व्यक्तिः, इति वैपरीत्यापत्तेश्च।
प्रकरणमुल्लङ्घ्यापि प्रसिद्धतरार्थस्यैव प्रथमं स्मृतेः। अत
एव- 'द्वयार्थमप्रसिद्धेऽर्थे प्रयुक्तं निहतार्थकम्' इत्युक्तलक्षणस्य
निहतार्थस्य काव्यदोषत्वमुपगम्यते। प्रसिद्धतराप्रकृतार्थप्रतीत्या
प्रकृतार्थप्रतीतेर्व्यवधानात्। न च निहतार्थस्य दोषत्वात्तद्वययोगो-
ऽर्थद्वयविवक्षास्थलेऽपि काव्ये न संभवति इति वाच्यम्,
श्लेषमकादिषु तस्य वृद्धौदौषत्वाभावावस्योपादितत्वात्।
'अन्धकक्षयकरः', 'राजा हरति लोकस्य', 'राजा राजार्चिता-
ह्वेरनुपचितकलो यस्य वृडामणित्वम्' इत्यादिदर्शनाच्च।
तस्मान्छब्दस्यार्थप्रतिपादनोपयोगित्वात्सासत्तिरूपधर्मभेद एव
वृत्तिभेदप्रयोजको न तु तदभेदाभावः। प्रतिपादनगत-
साक्षात्त्वव्यवहितत्वभेदे सत्यपि शक्तिशक्त्यसंबन्धरूप-
प्रतिपाद्यप्रत्यासत्तिभेदेनैवाभिधालक्षणयोभेददर्शनात्। तद् भेदाभावे
प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थगोचरशब्दश्लेषस्थले लक्षितलक्षणास्थले

व्यङ्ग्यस्थले चार्थद्वयप्रतीत्योः साक्षात्त्वव्यवहितत्वभेदे
सत्यप्यभिधालक्षणाव्यक्त्यतिरिक्तवृत्त्यदर्शनाच्च, इत्यप्रयोजक-
स्याव्यवस्थापादकस्य च साक्षात्त्वविशेषणस्यायोगात्
'तद्विषयशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादकत्वमेवाभिधा' इत्यप्रकृतेऽ-
प्यर्थेऽभिधाव्यापारो दुर्वारः।

यतोहि शक्तिरभिधा इति मन्यते तैः। अप्राकरणिकेऽप्यर्थे सा
निर्विवादमस्ति। शक्यार्थप्रतिपादकत्वरूपः शब्दव्यापारोऽभिधेति
वैः काव्यप्रकाशकारादिभिः स्वीक्रियते, सोऽप्यप्राकरणिके अस्ति।
यतो हि अप्रकारणशक्यप्रतिपत्तये शब्दप्रत्ययप्रतिपादकं नास्ति।
यदि शक्तिः शक्यार्थप्रतिपादकत्वरूपशब्दव्यापारश्च त्वयुधार्थमन्वत्वेन
'शक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादकत्वमभिधे' इति उच्यते साप्यप्राकरणिके
घटत एव। गृहीतशक्तिरस्यप्राकरणिकेऽर्थः किमभिधा न प्रतीयते?
प्रतीयत एव। अत एतदपि अभिधाया लक्षणं अप्राकरणिकेऽर्थे
घटते।

यदि शक्तिग्रहमपेक्ष्य शक्यता साक्षात् शब्दप्रतिपादकत्वम-
भिधा इति लक्षणमुच्यते तदा 'साक्षात्' विशेषणस्य प्रयोजनमेव
निर्दिश्यते चेत्, साक्षात् पद लक्षणे न गृह्यते तदानीं लक्षणाग्राम-
तिव्याप्तिरभ्यास्यते। यतो हि शक्यता तत्प्रतिपादनव्यवधानेन तत्सम्ब-
न्धैर्यर्थप्रतिपादनं लक्षणाया लक्षणम्। अतो व्यवहितार्थं भाषणं इति
वागणाय साक्षात् पदं मार्गिकम्। एवंभवे मानार्थकं स्थलेऽपि साक्षात्
विशेषणस्य सार्थकत्वम्। अनुवर्तमानप्रकरणेन तत्प्रकृतार्थोपस्थापनं
शीघ्रभावीति तत्राभिधा भवतु अप्रकृतार्थान्तरप्रतिपादने विलम्बस्त्वव्यव-
धानसत्त्वात् तत्राभिधा न प्रमेते इति साक्षात्पदसावश्यकम् इति
चेत्।

अत्रोत्तरं नि दीक्षताः। साक्षात्त्वविशेषणं विनैव केवलं
तद्विषयशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादनमभिधा' इत्येतन्मात्रलक्षणं
साधु। इदमेव लक्षणमनिव्याप्तिदोषशून्यम्। यतोहि सभङ्गस्थलेपस्थले
तत्पदरूपेण, पदभङ्गकृतपदान्तररूपेण बार्थान्तरप्रतिपादने विलम्बस्त्व-
व्यवधानसत्त्वादुभयत्राभिधायाः सत्त्वात् साक्षात्पदमनादेयम्। साक्षात्
विशेषणदाने 'येन ध्वस्तमनोऽभवेन' इति पदो, शङ्कराक्षे
प्रसिद्धप्राचुर्येण झटित्यर्थप्रतिपत्तिः विष्णुगणेश शशिमच्छिरोहर इति

अन्वकक्षयकर इत्यनयोः प्रयुक्तनिहतार्थतया विलम्बेनार्थप्रतिपत्तिरिति सर्वसिद्धतया विष्णुपक्षीयोऽभिधाविषयो न स्यात्। तथा च प्रकृतमभिधेयमप्रकृतमभिधेयमित्युच्यते तत्राभिधेयं न्यात् यतो हि यत्र निहतार्थत्वदोषप्रस्तत्वेनाप्रकृतं प्रसिद्धतरं प्रकृतञ्चा प्रसिद्धतरं तत्र प्रसिद्धिप्राप्त्युक्त्या प्रकृतार्थप्रतिलिखे साक्षात् भवति त्वैवाभिधा- प्रकृते च तदन्येति वैपरीत्यप्रतिः। प्रसिद्धतराप्रकृतार्थं प्रतीत्या प्रकृतार्थप्रतीत्यव्यवधानरूपनिहतार्थत्वदोषदुष्टस्यापि श्लेषयमकादौ तोषाभावत्वमाचार्यैर्निर्दिष्टमिति कृत्वा तत्प्रयोगोऽर्थं द्रव्यविशेषस्थले काव्ये स्वीकृत एव। अतएवान्वकक्षयकर इत्यादि प्रयोगेऽपि साधुकाव्यत्वं निर्दिष्टमस्ति। अतः 'साक्षात्' पदं अभिधा- लक्षणं न नियम्।

साक्षात्पदानुपादानं अभिधालक्षणादिषु भेदाभाव प्रसज्येत इत्यापि न वक्तव्यम्। वस्तुतः शब्दस्यार्थप्रतिपादनोपयोगितत्प्रत्यासत्तिरूप- धर्मभेदः परस्परवृत्तिभेदप्रयोजकः। इत्थं शक्तिरूपप्रतिपाद्यप्रत्यासत्ति- भेदेनाभिधा शक्यसम्बन्धरूपप्रतिपाद्यप्रत्यासत्तिभेदेन लक्षणेति त्रयोभेदः। साक्षाद्व्यवहितत्वं तु तयोर्न नियामकम् यतो हि साक्षाद- व्यवहितत्वे सर्वान् अभिधालक्षणाव्यञ्जनासु अर्थद्वयप्रतिपादानासु सामान्यतया लक्ष्यते। प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थगोचरशब्दश्लेषस्थले लक्षित- लक्षणास्थले तथा च व्याड्यस्थले अर्थद्वयप्रतीत्योः साक्षाद्व्यवहितत्वं स्पष्ट लभ्यते क्रमेण तेषु स्थलेषु अभिधालक्षणाव्यञ्जनेति वृत्तिः। न तु तदतिरिक्ता काव्यनान्येति, अव्यवस्थापादकसाक्षात् विशेषणं, अभिधालक्षणं न दैयम्। अतः तद्विषयशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादकत्वमेवाभिधा इति लक्षणं पर्यवसितम् तत्तु नानार्थकस्थल- उपकृतेऽपि घटत एव अतस्तत्राप्यभिधाव्यापारो दुर्बलः।

अथ अभिधा का लक्षण अप्रकृतार्थं न घटता है कि नहीं इस पर विचार करते हैं। यदि अभिधा का लक्षण, 'शक्ति' है तो अप्रकृत अर्थ में भी निर्विकाररूप में 'शक्ति' है। यदि काव्यप्रकाशकारादि के अनुसार 'शक्यार्थप्रतिपादकरूप शब्द व्यापार' अभिधा है तो भी अप्रकृतार्थ में संगत होती है। क्योंकि अप्राकरणिक शक्य के प्रत्यय के लिए शब्द से भिन्न की जनकता नहीं ही है। यदि कहे कि शक्तिग्रह को अपेक्षाकर शक्यार्थप्रतिपादकत्व को अभिधा कहते हैं, तो पुरते है कि गृहीतशक्ति वाले व्यक्ति को अभिधा में अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती है

क्या ? जिससे अप्राकरणिक में शक्तिग्रह न माना जाय। यदि यह कहे कि 'शक्तिग्रह' में साक्षात् शक्यार्थप्रतिपादकत्व को अभिधा कहते हैं क्योंकि यदि 'साक्षात्' विशेषण अभिधालक्षण में नहीं दिया जायेगा तो मूलवार्थशक्तिग्रह के सहयोग से शक्यप्रतिपादन के व्यवधान से, शक्य- सम्बन्धी अर्थान्तर का प्रतिपादन करने वाली लक्षणा में अतिव्यापि होगी। इस प्रकार नानार्थक स्थल में भी पहले से ही अनुवर्तमान प्रकरणदि को सहायता से प्रकृतप्रमेयार्थ का उपस्थापन शीघ्रभावी है तथा अप्रकृतार्थान्तर का प्रतिपादन व्यवहृत होने से अप्रकृतार्थ में अभिधा नहीं होगी तो यह भी नहीं कह सकते क्यों कि अभिधालक्षण में 'साक्षात्' पदविशेषण व्यर्थ है केवल 'तद्विषयशक्तिग्रहमपेक्ष्य तत्प्रतिपादनमभिधा' इतना ही लक्षण अभिधालक्षणादिभिः में शुद्ध है। क्योंकि यथाद्वयलेख स्थल में लिख्यपद रूप से, तथा पदभङ्ग से प्राप्त पदान्तर रूप से अर्थान्तर के प्रतिपादन के लिए साक्षात् पद नहीं देना चाहिए क्योंकि साक्षात् पद व्यवधानाभाव रूप है, और पदभङ्ग से प्राप्त पदान्तर में विलम्ब होने के कारण व्यवधान है। जैसे 'येन ध्वस्तमनोऽभवेन पद्य में, शंकर पद्य में, प्रसिद्धिप्राप्त्युत्पत्ति से स्फुटपदसम्बन्धी अर्थप्रत्यय के कारण झटिति अर्थप्रतिपत्ति हो जाती है। विष्णुपक्ष में राशिमन्त्रिग्रह, अन्वकक्षयकर इत्यादि अस्फुटपदसम्बन्धी अर्थप्रत्यय विलम्ब से होता है कहे कि इनमें अप्रयुक्तता तथा निहतार्थत्व दोष है जो अप्रसिद्धार्थत्व के कारण विलम्ब से प्रतीति कराते हैं। अतः विष्णुपक्ष में विलम्ब होने से, उपस्थित व्यवधान के कारण साक्षात् विशेषणविशिष्ट आपकी अभिधा का लक्षण संगत ही नहीं हो सकेगा। और आप उसे भी अभिधेय ही मानते हैं।

दूसरी बात प्रकृतार्थ तथा अप्रकृतार्थ विषय में भी है नानार्थक स्थल में जहाँ पद अप्रकृतार्थ के लिए प्रसिद्धतर है तथा प्रकृतार्थ के लिए अप्रसिद्ध है वहाँ प्रसिद्धिप्राप्त्युत्पत्ति से अभिलम्बेन प्रथमा उपस्थित अप्रकृतार्थ ही अभिधा का विषय होने लगेगा, प्रकृतार्थ में व्याञ्जना होने लगेगा। अतः साक्षात् पद लक्षण में नहीं देना चाहिए। नहीं तो वैपरीत्य भी होने लगेगा।

प्रसिद्धतर अर्थ की प्रतीति, प्राक्करण का उल्लङ्घन करके भी होती ही है इसलिए निहतार्थत्व दोष होता है क्योंकि द्वयोर्थकपदका अप्रसिद्ध अर्थ में प्रयोग ही निहतार्थत्व है इस प्रकार प्रसिद्धतर अप्रकृत अर्थ से अप्रसिद्ध प्रकृतार्थ प्रतीति में व्यवधान होता ही है। यह भी नहीं कह सकते कि निहतार्थत्व दोष है अतः निहतार्थपद का प्रयोग अर्थद्वयविवक्षास्थल वाले काव्य में भी नहीं कर सकते, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि प्राचीनों ने श्लेष यमकादि अलंकार में इसे दोषाभाव के रूप में माना है। 'अन्वकक्षयकर' 'राजा इति लोकस्य' इत्यादि में प्रयोग देखे ही जाते हैं।

इसलिए साक्षात् तथा व्यवहितत्व विशेषण के बिना, वृत्तियों के लक्षण का भेदक, अर्थ प्रतिपादन में जो उपयोगी, तन्मन्त्रात्मनिरूप अर्थ, उसे मानना चाहिए। प्रतिपादनमें साक्षत्वं तथा व्यवहितत्वं रूप भेद, इन भी वृत्तियों में रहने पर भी, शक्यसम्भव रूप जो प्रतिपादप्रत्ययसंज्ञि भेद तथा शक्यसम्भवरूप जो प्रतिपादप्रत्ययसंज्ञि भेद, एवै भेद अभिधा तथा लक्षणा के भेदक है यदि इस भेद को नहीं मानते हैं, तथा साक्षत्वं व्यवहितत्वं की भेदक मानते हैं, तो प्रसिद्धार्थ तथा अप्रसिद्धार्थ विषयक शब्द इत्येकस्य में लक्षितलक्षणात्म्योक्त नै, तथा अप्रसिद्धत्व में जहाँ अभेदय को प्रतीति हो रही है वहाँ अभिधा लक्षणा व्यवहारा को कैसे मानेंगे, दोनों में साक्षत्वं तथा व्यवहितत्वं प्राण है। हमसे अभिहित कोई वृत्ति आप मानते नहीं है। इस प्रकार अव्यवस्था उत्पन्न करने वाला अप्रयोगिक जो 'साक्षात्' विशेषण है उसे अभिधालक्षणा में नहीं देना चाहिए, बल्कि केवल 'तदुपविषयशक्तिग्रहणमप्येव तन्मन्त्रात्मनिरूपसंज्ञ-भिधा' इतना ही लक्षण करना चाहिए। और ऐसा लक्षण करने पर अप्रकृतार्थ में भी अभिधालक्षण घटित होगा ही अतः अभिधाव्यापार अप्रकृतार्थ में दुबारा है।

नैयायिकास्तु-प्रसिद्धिप्राप्त्यै सति प्रकरणादिशून्यस्याप्यर्थस्य स्मृतेः, प्रसिद्धभावे प्रकरणादिमनोऽप्यस्मृतेश्च, प्रकरणादिकं नाभिधानियामकम्। शक्तिग्रहसंस्कारपाटवमभिनियम्यत्वात्तस्याः। किंतु लिङ्गविधया तात्पर्यग्राहकम्। अत एव 'हरिरस्ति' इत्यनारभ्यवादश्रवणेऽपि हरिशब्दस्यार्थमानिलेन्द्रचन्द्रादयोऽर्था इत्यवधार्यते एव वक्तुः क्व तात्पर्यमिति नावधार्यते-इत्याहुः।

तद्रीत्या न कथंचिदपि प्रकरणाप्रकरणादिनाभिधानियमनं शक्यशङ्कम्। तस्मात् प्रस्तुताप्रस्तुतोभयपरेऽपि प्रस्तुता-प्रस्तुतोभयवाच्यार्थेऽभिधैव वृत्तिः। तदुपस्थितेषु च पदार्थेष्व-काङ्क्षादिसहकारिवशादुभयविधवाक्यार्थप्रत्ययः, इत्यप्रस्तुत-विषये न पदार्थप्रतीतये नापि वाक्यार्थप्रतीतये व्यक्तिरुपगन्तव्या। यत्तु प्राचामप्रस्तुते शक्तिमूलव्यञ्जनवृत्तिभिधानम्, तदप्रस्तुतार्थ-प्रतीतिमूलके यथा 'उदयमारुहः -' इत्यादिविशेषणविशिष्टः पृथिवीपतिः स्वल्पप्राग्बध्नलोकस्य हृदयं रञ्जयति, एवं तथाभूतश्चन्द्रमा मुदुलैः किरणैः, इत्यादिरूपेण प्रतीयमाने

उपमाद्वार्थालंकारे तदवश्यंभावदृढीकरणाभिप्रायेण। न तु तत्रापि वस्तुतो व्यञ्जनव्यापारास्तित्वाभिप्रायेण।

'आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चर्कगै-
माक्रम्य च स्थितमुदप्रविशालशङ्कुम्।
मूर्ध्नि स्खलत्तुहिनदीधितिकोटिमेन-
मुदीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम्।'
इत्यादिना शब्दशक्तिमूलस्यालंकारध्वनेरेवोदाहरणत्वेन तैरपि लिखितत्वात्।

'उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गूढीनं शशिना निशामुखम्।'
इति श्लेषापादितविशेषणसाधारण्यनिमित्तसमासोक्त्यलंकारो-
दाहरणे रागादिशब्दानामप्रस्तुतोऽप्यभिधावृत्तेरेव श्लेषव्यवहारेण स्फुटीकरणाच्च।

न च अत्र स्वतोऽप्रस्तुतयोरपि कामिनोः प्रस्तुतशशिनिसा-
वच्छेदकत्वेनान्वयान् तत्र तयोः सर्वथैव प्रकरणासंभवः -
इति वाच्यम्, 'विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य गम्यत्वे समासोक्तिः'
इति लक्षणानुरोधेनाप्रस्तुतप्रतिपत्तिविशेषणसाम्याधीनत्वेना-
प्रस्तुतस्य प्रकरणसंबन्धावगमात्त्रागेव तद्विशेषणेऽप्यभिधाया
वाच्यत्वात्। प्रस्तुतोपमानत्वादिना यथा- कथंचिद्भाविप्रकरण-
संबन्धस्येहापि सद्भावाच्च। सर्वथा प्रस्तुतासंबन्धस्याप्रस्तुतस्य
क्वापि कविवक्ष्यमाणगोचरत्वाभावात्।

नैयायिका अपि वदन्ति। प्रकरणादिकं नाभिधानियामकम्। यतोहि प्रसिद्धिप्राप्त्यै सत्यप्राकरणिकस्याप्यर्थस्य स्मृतिः प्रसिद्धभावे प्राकरणिकस्याप्यस्मृतिर्भावेति। अतः प्रकरणादिकं विहाय शक्तिग्रहसंस्कारपाटवमात्रं नियामकम् तस्याः लिङ्गविधया तात्पर्यग्राहकं तु प्रकरणं भवतु। अत एव प्रकरणादभावस्थले हरिरस्ति इति हरिशब्दस्यार्थमानिलेन्द्रचन्द्रादयोऽप्यर्था अवधार्यन्ते वक्तुः क्व तात्पर्यमिति नावधार्यते। इति।

इत्थं प्रकरणाप्रकरणादिनाभिधानियमनं शक्यशङ्कमपि नैतन्मते। अतः प्रस्तुताप्रस्तुतोभयार्थेऽभिधैव वृत्तिः।

अनयोपरिष्ठेण पदार्थेषु आकाङ्क्षादिवशादुभयविधवाक्यार्थ-
प्रत्ययः न तु व्यञ्जनया अप्रस्तुतपदार्थवाक्यार्थयोरन्यतरस्यापि
जृहतीति ।

इत्थं अप्रस्तुतेषु व्यक्तित्वविचार्य तन्मतं संगमयितुं व्याख्याति ।
प्राचीनैः शब्दशक्तिमूलव्यञ्जनं यदप्रस्तुतार्थोऽभिहितं तत्तु
तदप्रस्तुतार्थप्रतीतिमूलकं न तु शब्दमूलकम् । यथा-

असावुदयमारूढः इत्यत्राप्रस्तुतार्थमूलकोपमाद्यलकारः,
एतादृशोऽलकारोऽवश्यं भवतु इति दूरीकरणायैव शब्दशक्तिमूल-
व्यञ्जनवृत्त्यभिधानं न तु अप्रस्तुतार्थप्रतीतिवै । एतादृशो विशेषण-
यथा स्वल्पप्राद्यधनैर्लोकस्य हृदयं रञ्जयति तथाभूतरचन्द्रो मृदुलः
किरणैरित्युपमा व्यञ्जते । न त्वप्रस्तुतार्थोऽपि व्यञ्जनव्यापारमि-
त्वाभिप्रायेण । यथा अत्र शब्दशक्तिमूलालंकारध्वनिर्दर्शितः
“आन्ध्रदितायत” इति ।

भुवि नगेशम् रैवतकं शिवं वोह्वीश्व को न विस्मयते । रैवतक
पक्षे = नगानामीशः जगेशः । दिशश्चाम्बरज्वादिगम्बरे, आन्ध्रदिता
आयते दिगम्बरे येन तम् । तां पृथ्वीमाक्रम्य स्थितम् । तथा च
उदयाणि विशालानि नृणाणि शिखराणि यस्य तम् । शिरसिपार्श्वदिम-
कान्तिसिन्धुखम् अथवा शिरसि स्थलान् स्फुरन्तीं तुङ्गिनीदीधिते
कान्तिर्यस्य तम् । इति ।

शिवपक्षे दिगोवम्बरं दिगम्बरं, आन्ध्रदितां वसितं आयतं दिगम्बरं
येन तम् । उदयविशालभूङ्गम् = उदये विशाले भूङ्गे यस्य तादृशं
गाम् वृषभमाक्रम्य संस्थितम् । तथा च मुनिं स्फुरन्त्यदलकं शिवम् ।
वीश्व को न विस्मयते ।

नात्राप्रस्तुतार्थरूपवस्तुध्वनिः । तथैव समासोक्त्यलंकारोऽपि
ध्वनितः, न तत्रापि वस्तुध्वनिः । यथा उपोद्वारगेणेति ।

तैः प्राचीनैः समासोक्त्यलंकारोऽपि श्लेषेण विशेषणानां
साधारणत्वापदानेनाप्रस्तुतेषु अधिधावृत्तेरैव स्वीकारः कृतः । न तु
व्यञ्जनायाः । यथा - उपोद्वारगेण विलोलातरकमिन्त्यत्र रगादिशब्दा-
नामप्रस्तुतानुगाद्यर्थे श्लेषव्यपदेशादभिधावृत्तिरेव स्वीकृता । श्लेषस्थले
उभयवाचिभवेन तैः स्वीकृताऽस्ति । न चात्राप्रस्तुत्यः सर्वथा
प्रकरणासम्भवः इति न मन्यव्यं, यतोहि अप्रस्तुतयोरपि नायकयोः

प्रस्तुतशशिनिशावच्छेदकत्वेनैवाव्ययः, अतः प्रस्तुतसम्बन्धात् तस्यापि
प्रस्तुतत्वमेवेति नामिधया ग्रहणे दोष इति वक्तुं शक्यते ।
विशेषणसाम्यादप्रस्तुततस्य गम्यत्वे समासोक्तिरिति लक्षणाधुनारोप-
विशेषणसाम्याधीनाप्रस्तुतप्रतिपत्तिरिति स्पष्टा, अतः अप्रस्तुतस्य
प्रकरणसम्बन्धावगमात् प्रागुक्तं तद्विशेषणेषु अभिधायाः प्रवृत्तत्वाद्
अप्रस्तुतार्थोऽभिधेय एव ।

असावुदयमारूढः इत्यादावपि
प्रस्तुतस्योपमानत्वादिना अप्रस्तुतस्यापि प्रस्तुतं सह सम्बन्धात्
कथञ्चिदभाविनः प्रकरणसम्बन्धस्य सत्वमस्ति । सर्वथा प्रस्तुताद-
सम्बन्धस्याप्रस्तुतस्य कदापि कतिबन्धसामान्यीकरणव्याभावात् ।

नैयायिक भी कहते हैं कि - ‘प्रसिद्धिप्राप्त्यर्थं होने पर प्रकरणादि शून्य
भी अर्थ की स्मृति होती है प्रसिद्धि के अभाव में सप्रकरण भी अर्थ की
स्मृति नहीं होती है इसलिए प्रकरणादि अभिधा के नियामक नहीं है ।
शक्ति संस्कार के पाटव मात्र से ही वह नियम्य होती है किन्तु लिङ्गलिङ्गिभान
से प्रकरणादि तात्पर्यग्राहक होते हैं । इसलिए ‘हरिरस्ति’ यह वाक्य जब
एकाएक श्रुत होता है तो हरिशब्द के सूर्य वायु इन्द्र चन्द्र सभी अर्थ
उपस्थित होते हैं, तथा यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि वक्ता का
तात्पर्य किसमें है । इस प्रकार नैयायिकों की रीति से भी प्रकरण या
अप्रकरणादि से अधिधानियमन किसी भी प्रकार शक्यसम्भव नहीं है ।
इसलिए प्रस्तुताप्रस्तुताप्रत्यक्षस्थल में प्रस्तुत तथा अप्रस्तुत दोनों अर्थ
वाक्य ही हैं अतः उभयव्यं अधिधा ध्वनित ही हैं । अधिधा से उभयव्यं,
उपस्थित पदार्थों में आकांक्षादि वश उपगम्यत्व वाक्यार्थ का प्रत्यय होता
है । इसलिए अप्रकृतार्थ से न पदार्थ के लिए और नती वाक्यार्थ के लिए
व्यञ्जना माननी साक्षिणः ।

प्राचीनों ने जो अप्रस्तुत अर्थ में (शब्द) शक्तिमूलव्यञ्जना ध्वनि
स्वीकार की है वह अप्रस्तुतार्थप्रतीतिमूल उपमाद्यलकार के लिए की है
न कि उसके लिए । वस्तुतः, अप्रकृतार्थ में व्यञ्जनव्यापार का अस्तित्व
ले भी नहीं मानते । केवल उपमाद्यलकार के अवश्यभाव के स्पष्टीकरण के
अभिप्राय से शब्दशक्तिमूल व्यञ्जना मानते हैं । जैसे उदयमारूढ
इत्यादि स्थल में इन विशेषणों से विशेषण रूप स्वल्पप्राद्य (टिप्पणी) धन से
कीर्णों के हृदय की रञ्जित करता है जैसे ही चन्द्रमा मृदुल किरणों से ।
‘इस प्रकार प्रतीयमान उपमा की अवश्य प्रतीति के लिए शक्तिमूलव्यञ्जना
पानी गयी है क्योंकि प्राचीनों ने भी शब्दशक्तिमूल अलंकार ध्वनि का
उदाहरण ‘आन्ध्रदितायतदिगम्बर’ को दिया है । इसका अर्थ है

ऐक्यत्व पर्वत जो आकाश शिव है या शिव के समान है उसे देखकर कौन विस्मित नहीं होता है। दोनों समान हैं। ऐक्यत्व पक्ष में - जो विशाल असीमित दिशाओं तथा आकाश की आच्छादित किया है। पृथ्वी की आकाशत्व कर्तक स्थित है जिसके उत्पन्न विशाल विशाल पर्वत हैं। तथा स्फुरित चन्द्रमण्डल की नौदों के ऊपर धारण किए हुए हैं। शिव पक्ष में- विन्धोनि दिग्भङ्ग, दिशा रूपी अम्बर वज्र धारण किया है (आच्छादित का अर्थ वस्त्रित अर्थात् वस्त्र के रूप में अर्थ ग्रहण करना है) उत्पन्न विशाल योग बाले वस्त्र वृषभ पर स्थित है तथा जिसमें शिर पर सुशोभित किन्दकला है।

समासोक्ति अलंकार में भी अप्रकृतार्थ के लिये प्राचीनों ने भी अभिधा सती है जैसे उपोद्धरण में -

इस समासोक्ति में विशेषण का साधारणत्व एल्लेप से स्पष्टादित है अतः याग आदि शब्द का अनुराग आदि अप्रस्तुत अर्थ जो एल्लेप से आ रहा है वहाँ अभिधा हो का स्फुटीकरण हो रहा है क्योंकि एल्लेप स्थल में अभिधा हो जाती गयी है।

यदि यहाँ यह कहे कि अप्रस्तुत अर्थ भी प्रस्तुतार्थ से सम्बन्ध रखने के कारण इसे सर्वथा अप्रस्तुत नहीं कह सकते क्योंकि अप्रस्तुत दोनों नायिका नायक का अन्यत्र निशा शशि रूप प्रस्तुतार्थावच्छेदकत्वेन है अतः अभिधा हो सकती है, तो यह कहना ठीक नहीं। क्योंकि समासोक्ति का लक्षण है विशेषणों की समता में अप्रस्तुत का गम्यत्व इससे स्पष्ट है कि अप्रस्तुतार्थ का बोध विशेषणों के साथ के अधीन होने से अप्रस्तुत का प्रकरणसम्बन्ध के बोध के पूर्व ही, विशेषणार्थ अभिधा से वाचा हो जाते हैं।

नन्वेवम् - शब्दशक्तिमूलस्थालंकारध्वने: 'आच्छादितायत-दिग्भङ्गम्' इत्याद्युदाहरणसत्वेऽपि तन्मूलो वस्तुध्वनिर्लुप्येत, निरलंकारोऽप्रस्तुताद्य एव वस्तुध्वनेरुदाहरणीयत्वात्, तत्र च त्वयाभिधाङ्गीकारात्-इति चेत्, न। यत्राप्रस्तुतेऽर्थेऽभिधयैव प्रतिपाद्यमाने तन्मूलमनभिधेयं वस्तु प्रतीयते तत्र तदङ्गीकारात् इति। यथा-

'शनिरशनश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम्।' इति।

अत्र हि 'अशनि' शब्देन प्रस्तुताद्ब्रजान्यास्मिन्समभिव्याहृत 'शनिरिच्छरूपे' अप्यर्थेऽभिधयैव प्रतिपाद्यमाने 'विरुद्धावपि

त्वदनुवर्तनार्थमक कार्यं कुरुतः' इत्युपश्लोक्यस्य प्रभावातिशयः प्रतीयते। इत्थमेव प्राचीनैरपि शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरुदाहृतः।

ननु शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरुदाहरणश्चिन्तितः स्वीकृतः पूर्वैः। तत्र आच्छादितायतादिस्थलेषु अलंकारध्वनिर्दिशतः निरलंकारोऽप्रस्तुतार्थं वस्तुध्वनिः कथं स्पष्टः, यतो हि त्वया त्वयाभिधा स्वीकृता इति, न बध्नु युक्ताम्। यतो हि अभिधयैव प्रतिपाद्यमानेऽप्यप्रस्तुतेऽर्थे अप्रस्तुतार्थमूलमवधानमभिधेयं यत् वस्तु प्रतीयते तत्र तस्याङ्गीकारात् यथा।

शनिरशनश्च तमुच्चैर्निहन्ति इति।

हे नरेन्द्र ! यस्मै कुप्यसि तं शनिः अशनश्च उच्चैर्निहन्ति इति। अत्र अशनपदं नानार्थकम्। प्रस्तुतो वज्रमर्थः। अप्रस्तुतस्तु शनिरिवृद्धः। अत्र द्वयप्यङ्गीकारः। अतः बाध्यतेव विरुद्धावपि त्वदनुवर्तनार्थमक कार्यं कुरुतः' इत्युपश्लो उपश्लोक्यस्य नूतनः प्रभावानिर्धारः यस्तु ध्वनितः। प्राचीनैरपि इत्थमेव शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरुदाहृतः।

इसी प्रकार अलंकारध्वनि आदि स्थलों में भी, प्रस्तुत के उपमानादि, अप्रस्तुत का, भी प्रकरण से कथञ्चित् भावी सम्बन्ध हो ही सकता है। किन्तु प्रस्तुत से अवच्छेद अप्रस्तुत कहीं भी कति से विवक्षित नहीं देख पड़ता।

अस्तु आपने आच्छादितायतदिग्भङ्ग आदि उदाहरणों में अलंकार ध्वनि की समता तो दिखलाई भी किन्तु अब शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि कहाँ होगी, एतन्मूल वस्तुध्वनि का कोष भी जो जायेगा क्योंकि सर्वथा अलंकार रहित वस्तु ध्वनि अप्रस्तुतार्थ में ही प्राचीनों ने माना है और वहाँ आपने अभिधा मान ली, यदि ऐसा कहते हैं तो उसका उल्लेख यह है कि जहाँ पर अप्रस्तुत अर्थ अभिधा से ही प्रतिपादित हो जाने के पश्चात् अप्रस्तुतार्थमूलक कोई अनभिधेय वस्तु, प्रतीय होती हो वहाँ वस्तुध्वनि स्वीकार है। तब शनिरशनश्च उदाहरण में।

हे नरेन्द्र आप जिस पर कोप करते हैं उसको शनि तथा अशन दोनों मारते हैं। वहाँ अशन शब्द नानार्थक है। इससे प्रस्तुतार्थ वज्र के अविरक्त अप्रस्तुतार्थ शनिरिवृद्ध रूप अर्थ भी अभिधा से प्रतिपादित हो जाने पर ही, 'विरुद्ध भी दोनों आप के अनुवर्तन के लिए एक ही कार्य करते हैं' यह अर्थ होता है। अप्रस्तुत इस अभिधेयार्थ से उपश्लोक्य राजा का प्रभावातिशयरूप वस्तु व्यङ्ग्य होती है। इस प्रकार प्राचीनों ने

शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि को उदाहरण दर्शाया है।

ननु, —

‘भ्रमिरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम्।

मरणं च जलदभुजगजं प्रसङ्गं कुल्ले विषं विषोयिनीनाम्॥’

इत्यत्र ‘विष’ पदेनाप्रस्तुतं गरलं व्यङ्ग्यं, वाच्यस्य ‘जलद
एव भुजगः’ इति रूपकस्य सिद्धिकृतिं वाच्यसिद्धयङ्ग-
गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरता मम्मटाचार्येणाप्रस्तुते शक्येऽपि
शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिरुक्तः। सत्यम्। अप्रस्तुतार्थ-
प्रतीतिमूलतया प्रतीयमानयोर्वस्त्वलंकारयोर्व्यक्तयवश्यभाव-
दादुर्यायाश्रितम् ‘अप्रस्तुतार्थेऽपि व्यक्तिः’ इति प्रौढिवादमात्रम-
वलम्ब्य तत्प्रवृत्तमिति नात्राभिनिवेशः कार्यः।

ननु इति। पुनः प्रश्नयति, यत्त्वयोज्यते अप्रतुतेऽर्थे न वस्तु
ध्वनिरिति तन्नोचितम्। मम्मटेन अप्रस्तुते शक्येऽपि शब्दशक्ति
मूलो वस्तुध्वनिरुदाहृतः। यतोहि ‘भ्रमिरतिमलसहृदयतां’
अस्यार्थः — जलद एव भुजगः सत्यं, तदुत्पन्नं विषं विषोयिनीनां
भ्रमिं अरति पीडां, अलसहृदयतां सालसतां प्रलयं मूर्च्छां शरीरदौर्बल्यं
तथा च मरणं कुल्ले।

अत्र वर्षर्तुप्रस्तावे नानार्थकविषयस्य प्रस्तुतोऽर्थः जलं,
अप्रस्तुतार्थः, गरलम्। अत्र व्यङ्ग्यं गरलं, वाच्यस्य ‘जलद एव
भुजगः’ इति रूपकस्य, साधर्म्यनिर्गन्धदानेन सिद्धिकृतिम्। अतएवात्र
वाच्यसिद्धयङ्गगुणीभूतव्यङ्ग्यमिति नाम दत्तम्। यदि अप्रस्तुतोऽप्य-
भिधेयं स्यात्तर्हि कथमत्र एतन्नाम घटते।

अत्रोत्तरति। वस्तुतः प्रतीयमानो निर्दिष्टो वस्त्वलंकारो
अप्रस्तुतार्थप्रतीतिमूलको सः। तयोर्व्यक्तयवश्यभावादप्रस्तुतार्थेऽपि
व्यक्तिः स्वीकृता, वस्तुतोऽत्र व्यक्तिस्वीकारः प्रौढिवादमात्रम्,
व्यक्तिस्वीकारोऽभिनिवेशः न कर्तव्यः।

यदि यत्र कहे कि नहीं प्राचीनो का यह अभिमत नहीं है क्यों कि
मम्मट ने “भ्रमिरतिमलसहृदयतां” उदाहरण में अप्रस्तुत शक्य में
शब्दशक्तिमूल ध्वनि स्वीकार की है। इस बात का अर्थ है —

जलद रूपी भुजग में उत्पन्न विष, विषोयिनीयो को भ्रमि अरति
सालसता, प्रलय, मूर्च्छा, अन्धकार शरीरदौर्बल्य तथा कृतान्त मरण भी

सम्पादित कर देता है।

यहाँ विष पद नानार्थक है वर्षर्तु का प्रकलण होने से विष का जल
अर्थ प्रस्तुत है तथा अप्रस्तुत ‘गरल’ व्यङ्ग्य होकर वाच्य रूपक, ‘जलद
ही भुजग है’ इसकी सिद्धि कर रहा है। अतः यहाँ वाच्यसिद्धयङ्ग-
गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य होता है। अतः इस नाम से ही स्पष्ट है कि जिस
आप अप्रस्तुतशक्य कहते हैं उसी को व्यङ्ग्य मानकर प्राचीन ने शब्द
शक्ति मूल वस्तु ध्वनि माना है।

इसके उत्तर में कहते हैं कि सत्य है, किन्तु इसका तात्पर्य यह है
कि अप्रस्तुतार्थ मूलक जो वस्तु या अलंकार प्रतीयमान है उसको
निश्चिततया व्यङ्ग्यता के लिए अप्रस्तुतार्थ में भी व्यञ्जना मान ली
गयी है वस्तुतः केवल अलंकारादि में ही व्यञ्जना है। अप्रस्तुतार्थ में
व्यञ्जना केवल प्रौढिमात्र है अतः इसमें अभिनिवेश नहीं करना चाहिए।

ननु—एवं प्रस्तुतार्थपर्यालोचनाभ्ययोरैव वस्त्वलंकारयो-
र्व्यक्त्युपगमे तत्रार्थशक्तिमूलैव व्यक्तिभेदिति पृथगर्थशक्ति-
मूलध्वनेः शब्दशक्तिमूलो न स्यात्—इति चेत्, मैवम्। तथात्वेऽपि
प्रस्तुताप्रस्तुतोभयसाधारणशब्दसापेक्षतया प्रस्तुतमात्रपरपर्याय-
शब्दान्तरपरिवृत्त्यसहिष्णुत्वेन ततस्तस्य पृथग्व्यवस्थितेः।
एवमन्येऽप्यप्रस्तुतशक्ये व्यक्त्यनुपगमे संभाविताः क्षुद्रोपद्रवा
निरसनीयाः॥

॥ इत्यप्यप्यदीक्षितविरचिते वृत्तिवार्तिके
मुख्यवृत्तिनिर्णयो नाम प्रथमः परिच्छेदः॥

पुनः प्रश्नमुत्थापयति, ननु प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्बोधार्थयोर्वाच्यत्वेन
प्रस्तुतत्वात् प्रस्तुतार्थमूलयोर्बोधोर्वस्त्वलंकारयोर्बोधशक्तिमूलोवाच्यो-
र्वस्त्वलंकारयोर्बोधो स्वातन्त्र्यात् पृथगगणनस्य नास्त्यावश्यकतेति
स्वयमायातम्, तयोरेक्यमिति न वक्तव्यम्। उभयोर्भेदक-
त्वमिच्छन्निम्नं, एकत्र प्रस्तुताप्रस्तुतोभयार्थसाधारणशब्दसापेक्षतया
श्लिष्टशब्दोन्मात्वेन अन्यत्र तु प्रस्तुतमात्रार्थस्य अपरपर्यायपरिवृत्त्य-
सहितोऽश्लिष्टशब्दोन्मात्वेन तयोः पृथक्त्वमन्तव्यम्। एवमप्रस्तुतशक्ये
व्यक्तोन्निर्गन्धाय ये केचन क्षुद्रोपद्रवा स्युस्ते निरसनीयाः।

अब एक प्रश्न पुन खड़ा होता है कि यहाँ अप्रस्तुतार्थ को भी
प्रस्तुतार्थ मान लेने पर वाच्यरूप प्रस्तुतार्थपर्यालोचना से होने वाली वस्तु

तथा अलंकार ध्वनियों में भी अर्थशक्तिमूल ध्वनि ही होगी अतः अर्थशक्तिमूल ध्वनि से पृथग् शब्दशक्तिमूल ध्वनि नहीं हो पायेगी तो ऐसा नहीं कह सकते। क्योंकि शब्दशक्तिमूल में प्रस्तुत तथा अभिन्न अर्थ में साधारण श्लिष्ट शब्द होते हैं तथा अर्थ शक्तिमूल में मात्र प्रस्तुत अर्थ परक शब्द जो पर्यायनतको परिवृत्ति को नहीं सहन कर सकते ऐसे अश्लिष्ट शब्द होते हैं अतः दोनों की पृथग्-पृथग् व्यवस्था भी है। इसी प्रकार यदि अप्रस्तुत जो शक्यार्थ है वहाँ यदि कोई व्यञ्जना मानने के लिए छोटे मोटे उपद्रव आते हों तो उन्हें दूर कर देना चाहिए।

॥ इत्यप्यदीक्षितविरचिते वृत्तिवार्तिके मुख्यवृत्तिनिर्णये
नाम प्रथमः परिच्छेदः

काशीहिन्दुविश्वविद्यालयीय

साहित्यविभागध्यक्षेण प्रोफेसरचन्द्रमौलिद्विवेदिना व्याख्यातः ॥

अथ लक्षणा निर्णीयते।

सा च मुख्यासंबन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम्। तत्सादृश्येन प्रतिपादकत्वरूपा गौण्यपि लक्षणाप्रभेद एव, तत्सादृशेऽपि तन्निरूपितसादृश्याधिकरणत्वपरम्परासंबन्धसत्त्वात्। न हि 'साक्षात्संबन्धे विशिष्टबुद्धियोग्यसंबन्धे वा सत्येव लक्षणा' इति नियमः, चक्षुरादेर्धनैल्यादिषु संयुक्तसमवायादिवद्विशिष्ट-बुद्धययोग्यस्य परम्परासंबन्धस्यापि प्रत्यासत्तित्वोपपत्तेः, व्यतिरेकलक्षणास्थले तन्निरूपितविरोधाधिकरणत्वादि-परम्परासंबन्धमात्रेण तादृशेन लक्षणाकल्पेन। एतेन - सादृश्यं न संबन्ध इति गौणी लक्षणातो भिन्ना विशिष्टधीयोग्यस्यैव संबन्धत्वात्। संयोगे सति 'दण्डी देवदत्तः' इति वत्सत्यपि सादृश्ये 'सिंहवान् देवदत्तः' इति विशिष्टबुद्धेरदर्शनात्- इति निरस्तम्। विशिष्टबुद्ध्यायामकपरम्परासंबन्धमात्रस्य प्रत्यासत्ति-त्वोपपत्तेस्तावता लक्षणाकल्पेऽथ दर्शितत्वात्।

तस्मात् - ससादृश्यार्थतदव्यसंबन्धनिमित्ततया गौणी शुद्धा चेति लक्षणाया एव द्वैविध्यम्।

अथ लक्षणा निर्णीयते-

सा च मुख्यार्थः। मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्व लक्षणेति।

ननु गौणी न लक्षणा साक्षात् मुख्यार्थसम्बन्धाभावादिति चेत् न, तत्सादृश्येन प्रतिपादकत्वरूपा गौण्यपि लक्षणाप्रभेद एव। तत्सादृशे उपमेयेऽपि उपमाननिरूपितसादृश्याधिकरणत्वपरम्परासम्बन्धोऽस्त्येव। लक्षणायांमपि न केवलं साक्षात्सम्बन्धो विशिष्टबुद्धियोग्यसम्बन्धो वा भवति। यथा नीलो घट इत्यत्र घटनिष्ठनैल्यादिप्रत्यक्षाय संयुक्तसमवायादिषु विशिष्टबुद्धययोगित्वम् इत्थं लक्षणायांमपि परम्परा प्रत्यासत्तिबोधोपपत्तेः, व्यतिरेक लक्षणायाञ्च तन्निरूपितविरोधा-धिकरणत्वपरम्परासम्बन्धमात्रं दृश्यते एव।

एतेन यदुच्यते सादृश्यं न सम्बन्धः, लक्षणायाञ्च सम्बन्धो भवति गौण्याञ्च सादृश्यमिति परस्परं भेदः। यतो हि - सम्बन्धे विशिष्टधीयोग्यता भवति यथा दण्डी देवदत्तः, सादृश्यं तु सा न। तथा हि नोच्यते केनापि सिंहवान् देवदत्त इति। इत्थं विशिष्टबुद्धेरदर्शनात् लक्षणातो गौणी भिद्यते 'इति यदुच्यते तन्निरस्तम्। तत्रापि परम्परासम्बन्धस्यैव सत्त्वात् विशिष्टबुद्धेरनियामको यः परम्परासम्बन्धः तस्यापि प्रत्यासत्तित्वेन लक्षणाोपपत्तिः।

इत्थं लक्षणा द्विविधा गौणी शुद्धा च।

मुख्यार्थ सम्बन्ध से शब्द के प्रतिपादकत्व को लक्षणा कहते हैं। मुख्यासदृश्य से प्रतिपादन करने वाली गौणी भी लक्षणा का ही भेद है। मुख्यार्थ सदृश में, भी मुख्यार्थ निरूपित सादृश्य का अधिकरणत्व रूप परम्परा सम्बन्ध होता ही है। साक्षात् सम्बन्ध में या विशिष्टबुद्धियोग्य सम्बन्ध में ही लक्षणा हो, ऐसा कोई नियम नहीं है। परम्परासम्बन्ध का भी प्रत्यासत्तित्व अर्थप्रतिपादन में उपपन्न है, जैसे घट नैल्यादि के प्रत्यक्ष हेतु संयुक्तसमवाय्यादि सम्बन्ध जो विशिष्ट बुद्धययोग्य सम्बन्ध है, उसका भी प्रत्यासत्तित्व उपपन्न है। व्यतिरेकलक्षणास्थल में मुख्यार्थनिरूपित विरोधाधिकरणत्वादिरूपपरम्परासम्बन्ध से लक्षणा होती ही है। इससे जो लोग यह कहते हैं कि 'सादृश्य सम्बन्ध नहीं है इसलिए सम्बन्ध रूप लक्षणा से गौणी भिन्न है क्योंकि सम्बन्ध वही होता है जो विशिष्ट धी योग्य हो, जैसे संयोग सम्बन्ध के रहने पर 'दण्डी देवदत्त' कहा जाता है वैसे सादृश्य को सम्बन्ध मानकर, सादृश्य के रहने पर भी, 'सिंहवान् देवदत्त' नहीं कहा जा सकता। अतः विशिष्ट बुद्धि होने पर ही सम्बन्ध माने, विशिष्ट बुद्धि यदि न होती हो तो उसे लक्षणारूप सम्बन्ध नहीं माना

चाहिए, यह कहना ठीक नहीं है। विशेष वृद्धि को नियामक में होने पर भी परम्परा सम्बन्ध मात्र में लक्षणा प्रवृत्ति के प्रत्यासत्तित्व की उपपत्ति ही जाती है अतः गौणी को लक्षणा का ही भेद मानना चाहिए। इसीलए सादृश्यार्थ सम्बन्ध तथा तद्विपर्ययत्व को निमित्त मानकर होने वाले लक्षणा क्रमशः गौणी तथा शुद्धा के प्रकार को माना जाता है।

इयं च द्विविधापि लक्षणा प्रत्येकं द्विविधा-निरुद्धलक्षणा फललक्षणा च। रुदितुल्यतया निरुद्धलक्षणा। विवक्षितार्थान्तर-द्योतनफला फललक्षणा। आद्या यथा -

‘लवण्यसागरभुवि प्रणयं विशेषा-

ददुग्धाम्बुराशिदुहितुस्तव तर्क्यामि।

यत्तां विभर्षिं वपुषा निखिलैः प्रतीकै-

रन्यां तु केवलमधोक्षज वक्षसैव।’

अत्र ‘लवण्य’ शब्दस्य लवणत्ववाचिनो हृदयंगमत्व-सादृश्यात्सुषमाविशेषे रूढिलक्षणा। एवमालेख्यगजादी गजादिशब्दस्यापि रूढिलक्षणानुसंधेया। इदं गौण्या उदाहरणम्।

शुद्धा यथा-

‘क्वणद्विरेफावलीनीलकण्ठं प्रसार्य शाखाभुजमाप्रवल्लरी।

कृतोपगूढं कलकण्ठकूजितरतामयं पृच्छति दक्षिणानिलम्॥’

अत्र ‘द्विरेफ’ शब्दस्य ‘द्वी रेफौ यस्य’ इति व्युत्पत्त्या भ्रमरशब्दवृत्तेस्तद्वाच्ये रूढिलक्षणा। एवं त्वगादिशब्दानां त्वगिन्द्रियादिष्वपि शुद्धा रूढिलक्षणा दृष्टव्या।

पुनश्च द्विविधा निरुद्धा फलवती च। रुदितुल्यतया निरुद्धा। विवक्षितार्थान्तरस्य द्योतनान्त्विका फलवती। तत्र -

गौणी निरुद्धा यथा लावण्यसागरभुवि।

हे अधोक्षज, केशव ! दुग्धाम्बुराशे क्षीरसागरस्य दुहितु लक्ष्म्यां लावण्यसागरभुवि सौन्दर्यसमुद्रजातया लक्ष्म्यां (शोभायां) विशेषण तव प्रणयं तवमेव तर्क्यामि। यतो हि वपुषा निखिलैः प्रतीकैरवयवैः तां सौन्दर्यान्त्विका लक्ष्मीं विभर्षिं भासयसि, क्षीरादुभवां लक्ष्मीं तु केवल वक्षसैव।

अत्र ‘लावण्य’ शब्दो लवणत्ववाचिनो तस्य सुषमाविशेषे

हृदयंगमत्वरूपसादृश्यसम्बन्धेन लक्षणेति रूढिलक्षणा। एवं च चित्रलिखितं गजं दृष्ट्वा गजोऽयमिति यः प्रयोगः तत्रापि रूढिलक्षणा मन्तव्या।

शुद्धा निरुद्धा यथा - क्वणद्विरेफावलि।

आप्रवल्लरी वृत्तलता कृतोपगूढा कृतमुपगूढमालिङ्गनं यया सा, बढ़ालिङ्गना सती क्वणद्विरेफावलीनीलकण्ठ शब्दायमाना भ्रमरावलीरेव नीलकण्ठकं यस्मिन् तम्, शाखाभुज, प्रसार्य कलकण्ठकूजितैः मधुरध्वनिपिकध्वनिभिः दक्षिणानिलं मलयानिलं प्रियं, अनामयं कुशलक्षेमं पृच्छति।

अत्र द्विरेफशब्देन ‘भ्रमरो’ लक्ष्यते। यतो हि भ्रमरपदे, रेफद्वयं वर्तते। अतः ‘द्वी रेफौ यस्य स’ इति व्युत्पत्त्या भ्रमरपदवाच्ये लक्षणा। इयं शुद्धा निरुद्धा फलाभावात् सादृश्याभावाच्च। एवमेव चर्मघपरपर्यां याणां त्वगादिशब्दानामपि त्वगिन्द्रिये शुद्धा रूढिः।

इत्थं गौणीनिरुद्धा शुद्धानिरुद्धा च दर्शिता।

यह गौणी शुद्धा भी, निरुद्धा तथा प्रयोजनवती भेद से दो दो प्रकार की होती है, रूढिअधिका के तुल्य जो हो उसे निरुद्धा तथा जो विवक्षित अर्थान्तर की प्रतीति कराती हो उसे फलवती या प्रयोजनवती कहते हैं। उनमें गौणी निरुद्धा का उदाहरण जैसे - लावण्यसागरभुवि।

हे अधोक्षज, विष्णो ! क्षीरसागर में उद्यमान लक्ष्मी की अपेक्षा लावण्य सागर में उद्यमान लक्ष्मी (शोभा) में आपका विशेष प्रणय है ऐसी मैं तर्कना करता हूँ। क्योंकि आप शरीर के सभी अङ्गों से लावण्यलक्ष्मी की धारणा करते हैं किन्तु क्षीरसागर की लक्ष्मी को केवल वक्षसाल से।

यहाँ लवणत्ववाचो लावण्य शब्द की हृदयंगमत्वरूप सादृश्य से शोभा विशेष में रूढिलक्षणा है। इसी प्रकार चित्र में बने हुए गज म गजादि शब्द की रूढि लक्षणा है।

शुद्धारूढि का उदाहरण जैसे - क्वणद्विरेफावलि।

ध्वनि करता हुई भ्रमर राजि रूपी नीलकण्ठगवाली, आसन्न रूपी भुजाको फैलाकर आलिङ्गन करती हुई (आप्रवल्लरी) वृत्तलता (मानो) कलकलकूजन रूपी समीर ध्वनि में, मलयानिल रूपी प्रियतम का कुशल क्षेम पूछ रही हो।

यहाँ ‘द्विरेफ’ शब्द की धमराह में, ‘द्विरेफो यस्य स’ इस व्युत्पत्ति से प्राप्त द्विरेफत्वरूपसम्बन्ध में, रूढिलक्षणा है। इसी प्रकार त्वम् आदि शब्द को भी त्वगिन्द्रिय में रूढिलक्षणा मानी जाती है। यहाँ शुद्धानिरुद्धलक्षणा है।

(फललक्षणा यथा-)जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा सारोपा साध्यवसाना च। तत्राद्या त्रिविधा शुद्धैव सारोपा साध्यवसाना च शुद्धा गौणी च। इत्येवं सप्तविधा फललक्षणा।

जहल्लक्षणा यथा -

‘त्वत्पादपदमसुषमानुकृतिक्षमाणि

प्राप्तुं प्रवालपदभाजि विभूषणानि।

वल्कावृता धृतजटाः सुरदीर्घिकायां

कल्पद्रुमाः कति गिरीश तपश्चरन्ति॥’

अत्र ‘सुरदीर्घिका’ पदस्य कल्पद्रुमाधिकरणत्वयोग्ये तत्तीरे लक्षणा। मुख्यार्थस्य तदधिकरणत्वेनान्वयाभावाज्जहल्लक्षणा। कल्पद्रुमाणां तपश्चर्योत्प्रेक्षोपस्कारकं तीरस्यातिशयितपावनत्व-द्योतनं फलम्।

एवं ‘गङ्गायां घोषः’ इति प्रसिद्धोदाहरणमप्यनुसंधेयम्। तत्र गोस्वामिनः प्रीतये तीरस्याधिकशैत्यद्योतनं फलम्।

व्यतिरेकलक्षणापि जहल्लक्षणाप्रभेद एव। यथा-

‘उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्। विदधदौदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥’

अत्रापकारिण्यन्वयायोग्ये ‘उपकृतादिपदैः स्वार्थविरूद्धं लक्ष्यते।’ ‘त्वयापकारे क्रियमाणेऽपि मयैव प्रियमेवोच्यते’ इति स्वसाधुत्वद्योतनं फलम्।

अजहल्लक्षणा यथा- ‘कुन्ताः प्रविशन्ति, यष्टयश्च’ इति। अत्र ‘कुन्तादिपदस्य तद्वत्सु पुरुषेषु लक्षणा। कुन्तादेरपि पुरुषसाहित्येन प्रवेशक्रियान्वयाज्जहल्लक्षणा। तेषां निर्दय-प्रहर्तृत्वादियोतनं फलम्।

ग्रामैकदेशदाहादौ सति ‘ग्रामो दग्धः, पुष्पितं वनम्’ इत्यादि प्रयोगे ‘ग्रामादिपदस्य स्वार्थैकदेशपरित्यागेन तदेकदेशे वृत्ते-र्जहदजहल्लक्षणा, दग्धभूयस्त्वादियोतनं फलम्।

गौणीफलवती द्विविधा, सारोपा साध्यवसाना च। शुद्धा पञ्च विधा, जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा, सारोपा साध्यवसाना चेति। इत्यमाद्याभ्यां सह साकल्येन नवविधा।

शुद्धा जहल्लक्षणा यथा- त्वत्पादपदम्

हे गिरीश ! त्वत्पादपदमसुषमानुकृतिक्षमाणि, तव पाद एव पदम् तस्या या सुषमा शोभा तदनुकारसमर्थानि, प्रवालपदभाजि विद्रुमनामानि, नवकिसलयनामानि वा विभूषणानि अलंकारकुलान प्राप्तुं कति, कियन्तः, धृतजटाः, धृतसटाः, जटिलाः, वल्कावृता सवल्कलाः, कल्पवृक्षाःस्तपश्चरन्ति तपस्यन्ति। सुरदीर्घिकायां गङ्गायां तपश्चरन्ति तपस्यन्ति।

अत्र सुरदीर्घिकापदेन तयो लक्ष्यते। गङ्गायां वृक्षाधिकरण-त्वेनान्वयस्यासंभवात् जहल्लक्षणा। कल्पवृक्षाणां तपश्चर्यो-पस्कारकत्वेन तटस्यातिशयितपावनत्वप्रतीतिः फलम्। एवमेव गङ्गायां घोषः इत्यपि बोध्यम्। अत्र गोपालस्य प्रीत्युपस्कारकत्वेन तीरस्या-धिकशैत्यप्रतीतिफलम्।

व्यतिरेकलक्षणाऽपि जहल्लक्षणाभेद एव।

यथा - उपकृतं बहु तत्रेति -

अत्र वक्त्रादिवैशिष्ट्यादपकारिण्यन्वयस्यायोग्यतया ‘उपकृतादि पदैः स्वार्थविरूद्धं लक्ष्यते। चेद् धीरो वक्ता तदानीं ‘त्वयापकारे कृतेऽपि मयैव प्रियमेवोच्यते’ इति स्वसाधुत्वद्योतनं फलम्। चेत्धीरो वक्ता तदानीमपकारातिशयो व्यज्यते इति मन्तव्यम्।

अजहल्लक्षणा यथा- कुन्ताः प्रतिशन्ति, यष्टयः प्रविशन्ति इत्यादि। अत्र कुन्तादिपदेन कुन्तादिभारिणः पुरुषा लक्ष्यन्ते। कुन्तादेरपि पुरुषैः सह प्रवेशनक्रियायामन्वयाद् अजहल्लक्षणा। कृतातिशयप्रतीतिः फलम्। जहदजहल्लक्षणा यथा ग्रामैकदेशदाहादौ, ग्रामो दग्धः। ‘पुष्पितवनमिति।’ ग्रामादिपदस्य, स्वार्थैकदेशान्वयागेन स्वार्थैकदेश-वृत्तित्वेन चात्र जहदजहल्लक्षणा। दग्धभूयस्त्वद्योतनं ग्रामस्य बहुतरागधत्वप्रतीतिः फलम्।

फलवती या प्रयोजनवती, शुद्धा लक्षणा, जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा सारोपा तथा साध्यवसाना भेद से पाँच प्रकार की होती है।

प्रयोजनवती गौणी लक्षणा, शुद्धा तथा साध्यवसाना भेद से दो

प्रकार की होती है। इस प्रकार कुल सात भेद प्रयोजनवती के होते हैं।

जहल्लक्षणों का उदाहरण जैसे त्वादादपदसमुच्चयति ।

हे गिरिश ! आप के चरणकमल को सुषमा का अनुकरण करने में समर्थ जो प्रवाल (नवकिंसलय तथा विद्रुप) नाम के विभूषण उन्हें प्राप्त करने के लिए कितने - कितने कल्पवृक्ष, वल्कल तथा जटा धारण कर गङ्गा की मे सपत्न्या कर रहे हैं।

यहाँ कल्पद्रुम के आश्रय को सिद्धि के लिए सुरदीर्घिका पद का उसके तट में लक्षणा है। यहाँ मुख्याय अल्पबाह का अधिकरणत्वेन वृक्ष में अन्यत्र न हो पाने के कारण, सर्वथा अपने अर्थ को छोड़कर, तट की स्थिति करने में, जहल्लक्षण है। तथा इसका प्रयोजन तीर का अतिशयित भावमत्त्व है जो कल्पद्रुमों की लक्षणचर्चा को उपस्कारक है।

इसी प्रकार 'गङ्गाया घोषः' इस प्रसिद्ध उदाहरण का भी समझना चाहिए। यहाँ तीर का आत शैल्यादि को प्रयोजन, वह गोस्वामी की प्राति का उपस्कारक है।

व्यतिरिक्तलक्षणा भी जहल्लक्षण का एक भेद ही है जैसा कि-
उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते ।

अर्थ स्पष्ट है। यहाँ उपकृतादि पद अपकारी में अन्यत्र के योग्य न होने से स्वार्थ विरुद्ध अपकृतादि को लिखित करते हैं। तथा धीरवक्ता के विशिष्टपद से, उसका साधुत्वप्रतीत प्रयोजन है। तुम्हारे द्वारा अपकार करने पर भी मेरे द्वारा प्रिय हो कहा जा रहा है यह साधुत्व है।

अजहल्लक्षणों का उदाहरण जैसे- कुन्ता प्रविशन्ति। यद्यपि प्रविशन्ति। यहाँ कुन्तादि को कुन्तपारी पुरुष में लक्षणा है। पुरुष के साथ कुन्तादि का भी प्रवेशन किया है अन्यत्र हो जाने के कारण अजहल्लक्षण है। तथा उन पुरुषों का निर्दय प्रहार क्रूरप्रातिश्रयादि प्रयोजन है। जहल्लक्षणों का उदाहरण है, 'क्रामो दग्धः' 'पृथिवी वन' आदि। यहाँ क्राम के किसी एक भाग के दाह होने पर गांव दग्ध हो गया यह कहना प्रामादि पद की अपने ही एक भाग को छोड़कर एक भाग के ग्रहण करने से जहल्लक्षण है दग्धपुत्रस्त्व इसका प्रयोजन है।

सारोपा यथा -

'नाथ त्वदीयमकलङ्कमिमं मुखेन्दु-

मापीय तृपति सदा वसुधा यतस्ते।

तैर्नैव किं नवसुधारसगोचरोऽभू-

दिन्दुः कलङ्कमलिनीकृतमध्यभागः॥'

अत्र 'इन्दु' शब्दस्य मुखे लावण्यादिसादृश्याद्गौण-

सारोपलक्षणा। तादृष्यप्रतीतिः फलम्। एवं 'गौर्वाहीकः', मुखं कमलम्' इत्यादिव्यासेषि गौणसारोपलक्षणा द्रष्टव्या।

गौणसाध्यवसानलक्षणा यथा-

'नाभेरभूत्वव चतुर्भुजं वान्तरिक्षं

यन्नाभिरिव यदुनेतरियं ततोऽभूत्।

अन्योन्यसंश्रयपराहतिदूषितं य-

दाह श्रुतिस्तदविमृश्य किमर्थतत्त्वम्॥'

अत्र 'अन्तरिक्ष' पदस्य भगवदवलगने सूक्ष्मत्वसादृश्या-
दौणसाध्यवसानलक्षणा। सर्वथैवाभेदप्रतिपत्तिः फलम्। विषयस्य विषयिभेदेनानपह्नुतेन तदूपोपरकतताप्रतीतिस्तादृष्यप्रतिपत्तिः, विषयस्य विषयिणीवाभेदप्रतीतिः सर्वथैवाभेदप्रतिपत्तिः, इति सारोपसाध्यवसानलक्षणाफलयोर्भेदः। विषयविषयिवाचकयो-
र्द्वयोरपि निर्देशो आरोपः, विषयिपदमात्रस्य विषयलक्षणीकतया निर्देशोऽध्यवसायः, इत्यारोपाध्यवसाययोर्भेदः।

ननु-सारोपलक्षणोदाहरणे 'मुखेन्दुः' इत्यादी 'इन्द्रादि' पदस्य मुखोदा न मुखत्वादिना लक्षणा, 'मुख'पदस्यापि सत्त्वेन पौनरुक्त्यापत्तिः। नापीन्दुगतलावण्यादिगुणेन अन्यगुणस्यान्यत्र प्रवृत्तिनिमित्तत्वायोगात्। नापि मुखगतलावण्यादिगुणेन, मुख्यायसंबन्धरहितगुणमुखेन लक्षणायोगात्। मैवम्। मुखचन्द्रो-
भयानुगतलावण्यासामान्यादिमुखेन लक्षणोपगमे दोषद्वयस्या-
प्यसंस्पर्शात्। इदमेवाभिमतधारायुक्तं वृद्धे - 'लक्ष्यमाणगुणयौगा-
द्वुत्तेरिहा तु गौणता' इति।

शुद्धासारोपा शुद्धासाध्यवसानेति भेदद्वयं, गौणीसारोपसाध्यवसानयोरनन्तरमुदाहृते पूर्व गौणीसारोपमुदाहरति - यथा- नाथ त्वदीय ।

हे नाथ, तब निष्कलङ्क मुखचन्द्र इमं आपीय = सद्गुणभावेन मुखचन्द्रगतरसमापीय, वसुधा सदा तृपति यतः इन्दुः नवसुधारसा श्रयोपि वसुधारसगोचर न, वसुधाया रसस्य विषयो नाभूत्, तैर्नैव कलङ्कमलिनीकृतमध्यभाग, लाजिल्लान्तर्गम्य सकलङ्को वा अस्ति

किम्।

मुखेन्दुमित्रत्र इन्दुशब्दस्य मुखे लक्षणा, लावण्यस्य सादृश्यात् गौणी, मुखस्य विषयस्याभ्युपगमानात् सारोपा। मुखचन्द्रमो-
स्तादृश्यप्रतीतिः प्रयोजनम्। एवमेव गौर्वाहीकः मुखं कमलमिवारि-
व्यासस्थलेऽपि गौणी सारोपा बोद्धव्या।

गौणसाध्यवसानाया उदाहरणम् यथा- नाभेरभूतत्वं चतुर्भुजं
.....। हे चतुर्भुज ! यदुनेतः । तव नाभेः, अन्तरिक्षं अभूत्, इयं
नाभेरिव वा ततोऽन्तरिक्षादभूत् इति यदन्योन्यान्वयप्रशङ्कापदोपनि-
तत्वं तद्विमुक्तयैव भूति आह (अतः ब्रूहि) अर्थतत्त्वं किम्।

अत्र 'अन्तरिक्ष' पदस्य अवलम्बे, भगवतः कटौ मध्यभागं,
वा लक्षणा, सूक्ष्मावयवसादृश्यात् जानति गौणी। अत्र विषयस्य
कटिभागस्यानुपादानात् साध्यवसानेति गौणीसाध्यवसानलक्षणा। इयं
लक्षणा प्रयोजनवती अतः सारोपासाध्यवसानयोरलक्षणायोः क्रमेण
तादृश्यप्रतीतिः सर्वथैवाभेदप्रतीतिश्च फले स्तः। विषयस्य प्रकृतस्य
विषयिभेदेन-अप्रकृतभेदेन, असंगतत्वेन-शब्दतो निर्देशेन, तदुपा-
यवृत्तता प्रतीतिः विषयिकरूपोपरगप्रतीतिरिति तादृश्यप्रतीतिः
सारोपायामस्ति। साध्यवसानायां, विषयस्य प्रकृतस्य विषयिणीवा-
प्रकृतेनैव निगमणात् साक्षात्शब्दतोऽनुपादानात् सर्वथैवाभेदप्रतीतिः
फलमस्ति।

आरोपसाध्यवसानयोरयमेव धैर्यं यदरोपायां विषयविषयिणी
प्रकृताप्रकृतयोरुभयोरपि शब्दतो निर्देशो भवति, साध्यवसानायां तु
विषयिण एव अप्रकृतपदमात्रस्य प्रकृतलक्षणिकतया निर्देशो भवति।
मुखेन्दुरित्यत्र सारोपायां इन्दुपदस्य मुखे या लक्षणा क्रियते सा
केन रूपेण, मुखत्वादिना, वा इन्दुगतलावण्यादिना वा मुखगत-
लावण्यादिना अथवा मुखचन्द्रोभयानुगतलावण्यादिसामान्येन। तत्र
नाह। मुखत्वादिना, मुखपदस्यापि उपादानात् मुखत्वस्याभिधेयैवोप-
लब्धत्वात् पुनः मुखत्वादिना मुखोदी कियमाणायाम् लक्षणायां
पौनरुक्त्यापत्तिः। न द्वितीया, इन्दुगतलावण्यादिना, अन्यस्य अन्यत्र
प्रवृत्तिनिमित्तत्वायोगात्। न तृतीया, मुखगतलावण्यादिना, मुखार्थं
(इन्द्र्यं) सम्बन्धरहितपुण्यादिना लक्षणायोगात्। चतुर्थस्तु चित्त एव
उभयानुगतसामान्यगुणेन लक्षणोपायमे सकलदोषस्यासम्पत्तिः।

इदमेवाभिसंधाय प्राचीनैरुक्तम्।

'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता' इति।

लक्ष्यमाणोभयानुगतगुणैः सम्बन्धात् गौणी लक्षणा भवतीति भावः।

गौणी सारोपा का उदाहरण जैसे - नाथत्वदीयमकलङ्क

हे नाथ ! आपक अकलङ्क इस मुखचन्द्र को सत्पणभाव से पान कर
वसुधा तृप्त नहीं हो पा रही है जिसके कारण चन्द्र, वसुधा के रसपान का
विषय नहीं हो पाया। (तथा नव सुधारस का विषय बन गया। न ४
वसुधा तथा नवसुधा ऐसा विग्रह करना चाहिए।) इससे ही वह अपने
मध्यभाग को कलङ्क से मलिनोक्तकर लिया है क्या ?

यहाँ लावण्य आदि सादृश्य से 'इन्दु' शब्द की मुख मे
गौणसारोपलक्षणा है। मुख तथा इन्दु दोनों शब्दतः कहे गये हैं इसलिए
सारोपा है। यहाँ मुख तथा चन्द्र को तादृश्यप्रतीति प्रयोजन है। यह तो
समास का उदाहरण है व्यास अर्थात् समासरहित के उदाहरण गौर्वाहीक
मुखं कमलम् आदि को जानना चाहिए।

गौणसाध्यवसानलक्षणा का उदाहरण जैसे नाभेरभूतत्वं

हे चतुर्भुज ! यदुनाथ ! तुम्हारी नाभि से अन्तरिक्ष (कटि) हुआ है।
(यद्वा) अथवा अन्तरिक्ष से नाभि ही हुई है यह जो अन्त्योन्याश्रयदोषोपनि-
विकल्प, उसका बिना विमर्श किये ही श्रुति ने कुछ कुछ कहा है। आप
बतलाए इसमें वस्तुस्थिति क्या है।

यहाँ मुखत्वादि सादृश्यबला अन्तरिक्ष पद को कटिप्रदेश मे गौण
लक्षणा है, कटिप्रदेश को शब्दतः कथन न होने से साध्यवसाना है।
कटिभाग एवं अन्तरिक्ष में सर्वथा अभेदप्रतीति फल है। जब प्रकृत का
अलग से अप्रकृत के साथ शब्दतः कथन हो तो तदुप का उपराग प्रतीत
होने से तादृश्य फल होता है। जब अप्रकृत (विषय) से ही प्रकृत का
(कथन) बोध होता हो तो एक वदोपात्त होने से दोनों की अभेद प्रतीति
होती है अतः यहाँ सर्वथा अभेद प्रतीति फल है। यही सारोपा तथा
साध्यवसाना के फल में भेद है।

अब यह प्रश्न होता है कि मुखेन्दु आदि से इन्दु आदि पद की मुख
आदि में जो सारोपा लक्षणा है वह किस सम्बन्ध से है। मुखत्वादि से या
इन्दुगतलावण्यादिगुण से या मुखगत लावण्यादि गुण से या मुख चन्द्रोपपगत
सामान्यलावण्यादि गुण से। मुखत्वादि धर्म से इन्दुपद की मुख में लक्षणा
करते है तो पुनरुक्तत्व दोष होगा क्योंकि शब्दतः कहे गये 'मुख' पद से
मुखत्व धर्म वाच्य ही है। यदि यह कहे कि इन्दुगतलावण्य आदिगुण से
मुख में लक्षणा होती है तो यह भी ठीक नहीं क्योंकि दूसरे के गुण का
दूसरे में प्रवृत्तिनिमित्ततया सम्बन्ध नहीं हो सकता। यदि मुखगत

कर्मकानयनरूपवाक्यार्थाय 'गावो एते समानीयन्ताम्' इत्यादिप्रयोगः स्यात्। अन्यत्र 'गावः' पदं, गां वाहीकज्येभ्यो गृह्णाति।

यतो हि मुख्यार्थसादृश्येन लक्षणा गौणी भवति। मुखं कमलम् इत्यत्र कमलनिष्ठगुणवदभिन्नं मुखमिति बोधे कमलार्थसादृश्येन मुखं लक्ष्यते। कमलार्थसादृश्यं कमलार्थपूर्वं न संभवति, स्वसादृश्यस्य स्वमिन्नसंभवात्, यदि तत्रापि तत्सादृश्यस्य सत्त्वा स्यात् तदानीं मुखेऽपि गौणी वृत्तिः स्यात्, अतो जहल्लक्षणा-व्यतिरिक्तमिति चेन्न, साधारणगुणाश्रयत्वेन गौणी, मुख्यार्थलक्ष्यार्थो-भयनिष्ठत्वात् साधारणगुणस्य साधारणगुणकसादृश्यस्य मुखार्थेऽपि सत्त्वात्, न जहल्लक्षणा। मुख्यार्थस्याभिधया लक्ष्यार्थस्य च लक्षणमेति तत्तदर्थस्य कृत उभयोर्वृत्त्योर्विषयत्वम्। अतः मुखं कमलम्, गाव एते समानीयन्तामित्युभयार्थाभिलालक्षणाभ्यामेवार्थद्वयप्रतिपादनम्। यथा गङ्गायां जलं घोषश्च तिष्ठति इत्यत्र, गङ्गायास्त्वजहल्लक्षणाया 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इत्यत्र कुन्तपुरुषयोरेकदेश्येकदेशभावसम्बन्धात् विशेषणवाचिनो कुन्तपदस्य विशिष्टे कुन्तधारिपुरुषे संभवति जहदजहल्लक्षणा। इत्थं चिरन्तनं प्रदर्शिता भेदा संपन्न लक्षणाया निर्दिष्टा।

यदि यह कहे कि गौणी में भी जहदजहल्लक्षणा भेद होते हैं। मुखं कमलम्, गौवाहीक, इत्यादि स्थलो में मुख्यार्थकमलत्वसादृश्य में मुख में लक्षणा होती है मुख्यार्थकमलत्व सादृश्य मुख्यार्थ में ही रह जाती वकता, क्योंकि अपने में ही अपना सादृश्य हो नहीं सकता, अतः पदार्थं मुखादि में स्वार्थकमलत्वसादृश्य को कमलपद अर्पित कर देता है।

अजहल्लक्षणा भी तब संभव है जब गौ तथा वाहीक दोनों के लिए 'गावः' पद का प्रयोग कर दें। यहाँ 'गावः' पद अपने मुख्यार्थ गौ पदार्थ के लिए हुए, वाहीक को भी ग्रहण कर रहा है अतः 'गाव एते समानीयन्ताम्' में जहदजहल्लक्षणा भी संभव है। जैसे कुन्ताः प्रविशन्ति में कुन्त अपने को लिए हुए, कुन्तधारी पुरुष को लक्षित करता है। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि शुद्धा अजहल्लक्षणा 'कुन्ताः प्रविशन्ति' में तो संभव है क्योंकि विशेषणवाच्यो कुन्ता का विशिष्ट कुन्तधारी में एकदेश-एकदेश भाव सम्बन्ध होने से जहदजहल्लक्षणा हो जाती है। 'गाव एते समानीयन्ताम्' में ऐसा सम्बन्ध सम्भव नहीं है। अतः गावः पद में व्यवस्थित गौ, एवं वाहीक दोनों अर्थों के लिए अभिधा तथा लक्षणा दो वृत्तियों को मानना होगा। गौ की अभिधा सत्त्व में तथा गौ की

लक्षणा वाहीकार्थ में यहाँ है। अतः जहदजहल्लक्षणा का विषय यहाँ नहीं है।

'मुखं कमलम्' में भी मुखत्वोपगतकमलत्वसादृश्य में लक्षणा होने से सर्वथा लक्ष्यार्थ में स्वसम्पत्ति नहीं है क्योंकि कमलत्व अभिधा से ही है। अतः जहल्लक्षणा भी संभव नहीं है।

अत्रेदं प्रतिभाति- शुद्धास साध्यवसायलक्षणाभेदकथन-मयुक्तम्, पदार्थ स्वसम्पत्तिस्याविशेषेण तस्य जहल्लक्षणा-नतिरेकात्। न हि तदविशेषेऽपि सारोपलक्षणायां विषयवाचक-सामानाधिकरण्यकृतवैचित्र्यान्तरमस्ति, येन तद्वदेव जहल्लक्षणातः पृथगुदाहिष्येत।

ननु- 'कार्यकारणभावसंबन्धेन वृत्तिः इत्यत एव पृथक्त्वमस्नु, कार्यकारणभावातिरिक्तेन गङ्गातीरादिगत-संयोगादिसंबन्धेन वृत्ती जहल्लक्षणा' इत्यसंकोपपत्तेः। मैवम्। 'राजकीयः पुरुषो राजा, इन्द्रार्थां स्मृणा इन्द्रः', अतश्चायं तक्षा, अग्रहस्तोऽयं हस्तः' इति स्वस्वामिभावतादर्थ्यतात्कर्म्या-वयवावयविभावेष्वपि कार्यकारणभाव इव सारोपाध्यवसाय-लक्षणयोरकारणग्रन्थेऽप्युदाहरणादाश्रयाश्रयिभावसंबन्धेऽप्यलंकार-सुधानिधावुदाहरणाच्च वैचित्र्यान्तरभावेऽपि संबन्ध-भेदमात्रेण विधानतोऽप्येवमपि प्रत्याख्यातुमशक्यतया सप्तविधत्विनियमासामञ्जस्यप्रसङ्गाच्च।

ननु - साध्यवसायलक्षणेऽप्युदाहरणेऽप्युदाहरणभेदाभिव्यक्तिरस्ति, 'अयमानन्दः, अयं राजा' इत्यादावानन्दराजाजहदभेदाभिव्यक्ति-पूर्वकमेवानन्दव्यभिचारित्वानुल्लङ्घ्यशासनत्वादिकलप्रतीतेः, अतो व्यङ्ग्यवैचित्र्येण भेदोऽस्तु इति चेत्, न। जहल्लक्षणा-दाहरणेऽपि तीरे प्रवाहाभेदाभिव्यक्तिपूर्वकमेव तत्र तद्गतति-शयितशैत्यपावनत्वादिकलप्रतीतेः। तीरे प्रवाहातादात्म्य-प्रतीत्यभावे तत्र प्रवाहागतातिशयितशैत्यादः प्रत्ययासंभवात्। न हि तीरे गङ्गासंबन्धप्रयुक्तं तद्गतस्वाभाविकशैत्यादिघोतनमेव लक्षणाफलम्, येन गङ्गादिसंबन्धितरत्वेन लक्षणयैव तल्लभ्यते

इति नाभेदाभिव्यक्तिरङ्गीक्रियते, सत्यपि मुख्ये गङ्गातीरादिपदे स्थायते च शब्दप्रयोगे मुख्यप्रयोगादपि लभ्यस्य लक्षणा-फलत्वायोगात्। काव्यसरणी - 'लक्षणायां काव्यशोभातिशय-फलाधायकताप्यधिकं स्तोतुकामस्तस्य प्रवाहतादात्म्यप्रतिपत्त्या तद्गुतातिशयितपावनत्वद्योतनाय तस्मिन्गङ्गापदं प्रयुङ्क्ते' इति दर्शनाच्च। अतो जहल्लक्षणायाप्यभेदाभिव्यक्तिरविशिष्टा। उक्तं च काव्यप्रकाशिकायाम् - 'तटादीनां गङ्गादिशब्दप्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसंप्रत्ययः' इति। रत्नाकरेणाप्युक्तम् - 'स्रोतस्तीरयोरैकशब्दबोध्यत्वेन तादात्म्य-प्रतीतेः स्रोतोधर्माः शैत्यपावनत्वादयस्तीरं प्रतीयन्त इति प्रयोजनसिद्धिः' इति। अतः साध्यवसायलक्षणायाः फलकृतोऽन्यकृतो वा न जहल्लक्षणातो भेदः संभवति इति न तदुदाहरणपार्थक्यं युक्तम्।

गौणयो जहदजहल्लक्षणे तु न सम्भवतः, किन्तु इदं प्रतिभाति यत् शुद्धाय साध्यवसायलक्षणाया अन्तर्भावो जहल्लक्षणासामेव करणीयम्, यतो हि परार्थे स्वसमर्पणरूपधर्मस्यापि तत्रैव दर्शनं भवति। न च, परार्थे स्वसमर्पणरूपधर्मस्य सत्त्वेऽपि सारोपायां विषयवाचकपदसामानाधिकरण्येन यत् वैचित्र्यं दृश्यते तद्वद् विषयवाचकपदानुपादानेनाप्रापि। येन सारोपावदस्यापि पृथक्तायौपादानं क्रियेत, अतो जहल्लक्षणातो वैचित्र्यान्तरानुभवान् तत् पृथगनौ-दाहर्तव्यम् इति।

यद्येवमुच्येत, यत् सारोपादिसम्बन्धमादाय जहल्लक्षणा प्रसरति साध्यवसाना, तु कार्यकारणभावसम्बन्धमादाय, अतः सम्बन्धभेदेन तयोः पृथक्त्वाद् न स करोपप्रतिरिति ? तदपि न वक्तुं शक्यते शुद्धाय वैचित्र्यान्तरभावेऽपि केवलं सम्बन्धभेदमादाय सति पृथग्भेदगणना क्रियेत तदानीं शुद्धया एकस्मिन्नेव भेदे 'राजकीयं पुरुषो राजा, इन्द्रार्थं भूषा इन्द्र' इत्यादी नानाभेदगणनाप्रसङ्गोपपत्तिः स्यात्, यतोहि स्व-स्वामिभाव-तादर्थ्य-तात्कर्म्य-अवयवापवि-सम्बन्धभेदानामुपलब्धिः शुद्धायामेव भवति। न च केवलभेदे एव भेदा अपि तु अलंकारमुनिध्याद्यनुसारेण आश्रयाश्रयिभावादि-

सम्बन्धा अपि परिकल्पयितुं शक्यन्ते अतः सम्बन्धभेदमात्रेण विधानरूपगमो न युक्तः, सप्तविधनियमस्यासामञ्जस्यप्रसङ्गात्।

प्रथमे सारोपावत् पृथग्विषयानुपादानेन द्वितीये सम्बन्धमात्रभेदात् पृथक्त्वगणनानिरासेन जहल्लक्षणासाध्यवसानयोरैक्यं प्रदर्श्यं नृत्तीवप्रवृत्तं अहेदाभिव्यक्तिमादायापार्थक्यं प्रदर्शयन्नाह -

अयमानन्दः, अयं राजा इत्यादि साध्यवसायोदाहरणे विषये राजाद्यभेदाभिव्यक्तिं स्वीकृत्यैवानुल्लङ्घनीयशान्तत्वाभेदा-व्यभिचारित्वफलप्रतीतिर्भवति इदं वैचित्र्यमादाय जहल्लक्षणातोऽस्या भेद इत्थं च वक्तुं न शक्यते। जहल्लक्षणायामपि गङ्गायां शोभ इत्यादौ तीरे प्रवाहाभेदाभिव्यक्तिमादायैव तीरगुतातिशयितशैत्य-पावनत्वादिफलप्रतीतिर्भवति, तत्तादात्म्यप्रतीत्यभावे तद्गुतातिशयित-शैत्यादेस्तीरं प्रत्ययासम्भवात्। यदि नाभेदाभिव्यक्तिरङ्गीक्रियते, अपितु गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतो लक्षणा क्रियते तथा च तीरगतस्वाभाविक-शैत्यादिद्योतनेमव फलं स्वीक्रियते, तदानीं गङ्गातीरे शोभ' इति मुख्यया वृत्त्याऽपि द्वयोर्भावं तरगर्भं भवितुं शक्येत लक्षणाफलत्वायोगे लक्षणाप्रयोगस्य वैयर्थ्यात्। काव्यसरणी लक्षणाया काव्यशोभातिशय आधीयते, अतः गोस्वामिस्तोतुकामः कश्चन, तीरस्य प्रवाहतादात्म्य-प्रतिपत्त्यैवातिशयितपावनत्वप्रतीतिरिति तदर्थमेव तीरं गङ्गापदं प्रयुङ्क्ते। इत्थमत्राश्रयभेदाभिव्यक्तिरिति। उक्तञ्च काव्यप्रकाशे - तटादीनां गङ्गादि-इति। रत्नाकरेणाप्युक्तम् स्रोतस्तीरयोरिति। अतः साध्यवसानायाः फलकृतोऽन्यकृतो वा कस्यापि भेदो जहल्लक्षणातो न सम्भवति। अत उभयोः पृथक्ताया प्रतिपादनं न युक्तम्।

इस प्रकार गौणी में जहदजहल्लक्षणा तो सम्भव नहीं है किन्तु यह प्रतीत होता है कि शुद्धा भेदों में साध्यवसाना भेद नहीं मानना चाहिए, बल्कि इसका जहल्लक्षणा में ही अन्तर्भावकर लेना चाहिए, क्यों कि पदार्थ में स्वसमर्पण रूप धर्म यहाँ समाप्त रूप में परिलक्षित हो रहा है। सारोपलक्षणा में तो विषयवाचक पद का भी सामानाधिकरम्य से निर्दिष्ट रहता है अतः उसमें होने वाले चलाकारान्तर को भी प्रतीति हो सकती है किन्तु साध्यवसाना में तो जहल्लक्षणा के समाप्त हो केवल विषयो का ही उपादान होता है। अतः जहल्लक्षणा से कुछ भी विशेष इसमें न होने के कारण, इसे अलग से नहीं मानना चाहिए।

यदि यह कहें कि शुद्धा साध्यवसाना में कार्यकारणभाव सम्बन्ध होता है जहल्लक्षणा में उससे अनिश्चित सारोपादि सम्बन्ध होता है अतः

सम्बन्ध भेद से दोनों में भेद मान लेना चाहिए, कि यहाँ भी वहाँ कह सकते। क्योंकि यहाँ साध्यवसाना के ही कहीं तब-स्वामिभाव कहीं तक नहीं। क्योंकि यहाँ तत्कर्म कहीं अवधारणयति आदि सम्बन्ध, तथा अलंकार सुप्रतिनिधित्वादि के मत में आश्चर्याभिभाव सम्बन्ध भी कार्यकारणभाव के समान दिखलाये गये हैं, तो यहाँ भी इनके अनेक भेद होने लगेंगे। इसी प्रकार और थोड़े से भी शब्दा साध्यवसाना हो सकती है इस प्रकार के भेदों के चलते लक्षणा के कुल मत भेद है यह नहीं कहा सकते।

यदि यह कोई कि जललक्षणा एवं साध्यवसाना में व्यङ्ग्य के विनिर्णय में भेद है क्योंकि साध्यवसाना में अभेदापिच्छाक्ति है, जैसे 'अपन्नः' अवरजः इत्यादि स्थल में आनन्द मत राजादि के अर्पण की अपिच्छाक्ति होने पर ही अव्यभिचारित आनन्द एवं अनुल्लङ्घनीयशासन्यादि फल की प्रतीति होगी, तो भी नहीं कहा सकते, क्योंकि जललक्षणा के उदाहरण 'गङ्गाया घोषः' में भी तब से प्रवाह के अर्पण की अभिव्यक्ति की लेकर ही तब मत अतिशयित पावनत्व शैल्यादि फल की प्रतीति होती है। यदि प्रवाह के तादात्म्य की प्रतीति तब में न हो तो प्रवाहगत शैल्यापावनत्वादि की तब से प्रतीति होना सम्भव नहीं है। बिना इस प्रतीति के तब में अतिशयितशैल्यादि रूप फल भी नहीं होगा।

यदि यह कोई कि गङ्गापद में केवल गङ्गासम्बन्ध मात्र प्रतीत होता है तथा तब या तब स्वाभाविक शैल्या पावनत्वादि प्रतीति ही लक्षणा का फल है, यह स्वाभाविक शैल्यादि ही लक्षणा से, गङ्गासम्बन्धों तब की प्रतीति से होगी, अभेदाभिव्यक्ति की नहीं मानना चाहिए, तो यहाँ यह समझना चाहिए कि स्वाभाविक अभिभावृत्ति से जब गङ्गातीर आदि पद का प्रयोग कर सकते हैं, इसी मुख्यप्रयोग से ही तबगत स्वाभाविक शैल्यादि की प्रतीति हो सकती है फिर लक्षणा करने का क्या फल।

काव्य शोभा के अतिशय की आधायकता लक्षणा में होने से कोई स्तौति, स्तुतिकर्म का इच्छुक, प्रवाहतादात्म्य में होने वाले अतिशयित शैल्यापावनत्व के शोचन के लिए ही तब अर्थ में गङ्गा पद का प्रयोग करना है। यही सिद्धान्त है। इस प्रकार जललक्षणा में भी अभेदाभिव्यक्ति समान रूप में है। काव्यप्रकाश में कहा गया है कि - 'तदादि का गङ्गादिपद से कथन करने पर तब में गङ्गात्वकी प्रतिपत्ति होती है तथा गङ्गात्वप्रतिपत्ति होने पर ही प्रतिपादन करने के लिए अगिलपित शैल्यादि प्रयोजन का सम्प्रत्यय होता है।' रत्नाकर ने भी कहा है कि श्रोत तथा नीर का एकमात्र शब्द शब्द से बोध्य होने पर दोनों में तादात्म्यप्रतीति होती है। इस तादात्म्यप्रतीति से श्रोत के धर्म जो शैल्यापावनत्वादि है वे नीर में प्रतीत होते हैं यही प्रयोजन की सिद्धि है। इस प्रकार साध्यवसान लक्षणा का जललक्षणा में फलकृत या अन्यकृत कोई भी भेद नहीं सम्भव है।

अतः दोनों के उदाहरण में पार्यन्त करना युक्त नहीं है।

तथा सारोपलक्षणादुदाहरणे उपमानोपमेयानुगतसाधारण-धर्ममुखेन लक्षणा इत्युक्तम्। तथासति यत्र साधारणधर्मस्यापि पदान्तरणेपोदानं तत्र पौनरुक्त्यापत्तेः।

यथा -

‘ताराभिरामपरिणाहलसत्सिताम्रं

तापिच्छमेचकमुरःशरदन्तरिक्षम्।

प्राप्यैव देव तव कौस्तुभपूर्णचन्द्रः

पूर्णां विभर्ति पुरुषोत्तम कान्तिरेखाम्॥’

अत्र हि वक्षोऽन्तरिक्षयोः साधारणः परिणाहित्वमेचकत्वादिवर्धमोपि पृथगुपात एव। ‘उपात्तधर्मातिरिक्तधर्ममुखेन लक्षणास्तु’ इति चेत्, न। उपात्तमेचकत्वादिव्यक्त्यतिरिक्तसामान्यधर्मास्फुरणेऽपि सहृदयानां परिपूर्णवाक्यार्थप्रतीतिदर्शनादुद्भवत्वादिसामान्यधर्मस्य कवितावङ्गत्वात्। अन्तः कवयितुरप्येतद्गुणस्थलेषूपात्तधर्मातिरिक्तधर्मगङ्गीकारामावाच्य।

ननु- इह मा भूत्सारोपलक्षणा। ‘अ एव शरदन्तरिक्षम्’

इति मयूरव्यसकादिसमासोपगमे हि सा भवति। किन्तु- ‘अः शरदन्तरिक्षमिव’ इत्युपमितसमासोऽस्तु। तत्र च विग्रहवाक्यस्यो लुप्त इवकारः, सादृश्यं प्रतिपादयतीति ‘नोपमानवाचकस्योपमेये लक्षणा’ इत्यालंकारिकाणामभ्युपगमः। तत्र तैलुपोपमाङ्गीकारात्, इति न कश्चिद्दोषः, इति चेत्, न। मेचकत्वादिसामान्यस्य शब्दोपात्ततयोपमितसमासासंभवात्। ‘उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे’ इति सामान्याप्रयोगे एव तत्समासानुशासनात्। आलंकारिकैरपि- ‘सामान्याप्रयोगे सत्युपमाबाधकसत्वात्सारोपलक्षणामूलको रूपकालंकारः न तूपमालंकारः’, इत्यभ्युपगमात्। उपमितसमासे धर्मवाचकलुप्तोपमालंकारस्यैव तैरुदाहरणाच्च। सामान्यधर्मप्रयोगेऽप्युपमितसमासाङ्गीकारे हि केवलवाचकलुप्तापि तत्रोदाह्रियेते।

नन्वेवं साधारणधर्मप्रयोगे सादृश्यमुखेन लक्षणास्तु तद्वाचकस्य यथा- इव- वाऽऽदेरप्रयोगेण पौनरुक्त्याप्रसङ्गात् । तत्प्रयोगे उपमानवाचकस्य सादृश्यप्रतियोगिभूत- स्ववाच्य- परतयोपमेयलक्षणाया अवाच्यत्वात् इति चेत्, न । तथासति सादृश्यस्य शब्दोपात्तत्वेनोपमालंकारस्य प्राप्त्या 'सरोष- लक्षणायां रूपकादिरलंकारः, नोपमा' इत्यलंकारविभागा- सामञ्जस्यप्रसङ्गात् । न हि सादृश्यस्य वाच्यत्व एवोपमा, 'कमलसुहृन्मुखम्' इत्यादौ 'सुहृदादि' पदेन लक्षणायाग- प्युपमासंप्रतिपत्तेः । अपि च- 'पादाम्बुजम्' इत्यादौ व्याघ्रादेः समासेनोपमायाः, मयूरव्यंस्कवादिसमासेन रूपकस्य च संभवेन सर्वत्रानवधारणे प्राप्ते यत्र-

'पादाम्बुजं भवतु वो विजयाय मञ्जु
मञ्जीरशिञ्जितमनोहरमम्बिकायाः ।'

इत्यादौ पादे संभवन्मञ्जीरयोगादिकं निबध्यते, तत्र तदानु- गुण्यात्पूर्वपदार्थप्राधानेन व्याघ्रादिसमासेनोपमालंकारः यत्र तु-

'यस्यानिशं दिविषदश्चरणारविन्द
मुत्तसयन्त्यमितभक्तिभरावनम्राः ।'

इत्यादावविन्दकार्यमुत्तंसनादिकं निबध्यते, तत्र तदानुगुण्या- दुत्तरपदार्थप्राधानेन मयूरव्यंस्कवादिसमासेन रूपकालंकारः, इति व्यवस्था सर्वैरपि प्रतिपाद्यते । न च-इय व्यवस्था 'चरणारविन्दम्' इत्यादिरूपकस्थलेषु 'अरविन्दादि' पदानामरविन्दत्वा- द्याकारमपहायारुणाणिमादिसाधारणधर्ममुखेन तन्निबन्धन- सादृश्यमुखेन वा चरणदिलक्षकत्वे युज्यते । तथा सत्युत्तर- पदार्थस्याख्यसादृश्यगुणस्य प्राधान्यादियोगेन मयूरव्यंस्कवादि- समासाश्रयणेऽपि व्याघ्रादिसमासाश्रयण इव पूर्वपदार्थचरणस्यैव प्राधान्यापत्योत्तंसनानुगुण्यस्य विरहतौल्यापत्तेः । गुणाजाल्यो- र्जातिप्राधान्यस्य नीलोत्पलादौ व्यवस्थितैः । उत्तरपदार्थस्य प्राधान्येऽप्यरविन्दजातेरिवारुण्य-सादृश्यादिगुणस्योत्तंसना-

नुगुणत्वाभावाच्च । तस्मात्- 'सरोषलक्षणाद्व्यवहारेषु साधारण- धर्मादिमुखेन लक्षणा-' इत्ययुक्तम् । तथा- 'तादृशप्रतीतिरत्र फलम्-' इत्यप्ययुक्तम् ।

इति शुद्धात्मकव्यसानाजहल्लक्षणयोरैक्यं प्रतिपाद्य गोणासाराया स्थले उभयानुगतसाधारणधर्ममुखेन लक्षणंति न युक्तमिति निदर्शयितुं साधारणधर्मस्य पौनरुक्त्यापत्तिदोष उच्यते- समासाश्रयणापत्तौ दोषः, इवादिपदप्रयोगे लक्षणांक्ससादृश्यादिनाऽपि स एव दोषः धर्म्यनुगुणकार्यस्य सादृश्यगुणादिधर्ममुखेनासंपादात्वादि- त्यपि दोष इत्यादिना साधारणधर्मादिमुखेन न लक्षणा इति प्रतिपिपादयिष्यन्नाह-

उभयानुगतसाधारणधर्ममुखेन लक्षणातिस्वाकारे चदान्तर्गताग्रन्- साधारणधर्मस्थले पौनरुक्त्यापत्तिः । यथा ताराभिरामपरिणामः-

ताराभिरामपरिणामाहाभ्यां लसत्तृश्वेताकाशं तापिच्छरयामल शरदन्तरिक्षं उरः प्राप्यैव कौस्तुभगिरूपी पूर्णचन्द्रः पूर्णा कान्तिरेखा बिभर्ति । अत्र ताराभिरामानुभावात्मकात्त्वोर्ध्विच्छप्रतिबिम्बभावः । परिणामित्वसंबन्धकादिधर्म साधारणः । यद्यन्तरिक्षधर्मोन्मत्तस्य- विषयविशेषाणांशपादानात् कौस्तुभमेवा । अत्रैकस्यानुगतपरिणामित्ववि- साधारणधर्मस्य वाच्यत्वात् पूर्णलक्षणे पुनरुक्तिः । पौनरुक्त्यपरिहाराय चेदुपात्तधर्मगतिरिच्छाधर्माणां लक्ष्यस्य स्वीक्रियेत तदानीं ताराभिराम- धर्माणामवबोधमासे सारोपलक्षणावैव न घटेत । चेत् अत्रैकधर्मकारिधर्म- कमपवादय नष्टते तदानीं कवित्वाभावाप्रसङ्गितः । यत्र अत्रैव यद्यन्तरिक्षधर्मोन्मत्तकादिधर्म विहाय द्रव्यत्वादिधर्मोन्मत्तस्य । एतादृशस्थलेषु सुपरीक्षितेभ्यः भारतं नाकममङ्गलं, इत्यादावपि उपात्त- धर्मातिरिक्तधर्मस्य लक्ष्यत्वेन गर्भीकाराभावात् ।

सारोपलक्षणा विहायोरैक्यमाश्रयणेऽपि न निवारः । यद्यपि सारोपलक्षणायां मयूरव्यंस्कवादिना समासः उपमितसमासे 'उपमित- व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति सूत्रेण समासो भवति । तथाहि उ- एव शरदन्तरिक्षम् इति विग्रहे मयूरव्यंस्कवादियन्त्रेत्यस्य प्रवृत्तिः । उ- शरदन्तरिक्षमिव इति विग्रहे उपमितसमासस्य प्रवृत्तिः । विग्रहवाक्यस्य लुप्त इवकार सादृश्यमभिधत्ते । उपमानवाचकस्य इवकारस्य सत्त्वे नोपमेये लक्षणंति सिद्धान्तः । लुप्तोपमाद्वीकारे

उभयानुगतसाधर्म्यस्यालक्ष्यत्वे न पुनरुक्त दोषः इति न वक्तुं शक्यते।

अत्र परिगणितत्वेनैककत्वविशेषादर्थस्य शब्दोपात्तत्वेन नोपमित-
समान्यप्रयोगः, 'सामान्याप्रयोगे' इत्युक्तत्वात्। प्राचीनोऽपि
सामान्यप्रयोगस्तत्रैव उपमितमित्यादिनोपमा न स्वीकरोति अपि तु
रूपकमेव। उपमितसमासे धर्मवाचकयोग्यभेदोऽपि स्वीक्रियते न तु
केवलं वाचकस्य। अतोऽत्र तेषां उपमितसमासः स्वीक्रियते, तदानीं
सामान्यधर्मस्य प्रयोगात् केवलं वाचकलुपैवोपमा स्मादिति दोषः
नृद्वेष्यति।

अस्तु मा भवतु उपमितसमासः, रूपकसमास एव साधारणधर्म-
प्रयोगस्थलः अनुगतसाधारणधर्ममुपेक्षेति विज्ञाय सादृश्यमुखेन लक्षणा
भवतु, उरःशरदन्तश्चिगित्यत्र सादृश्यवानका यथा-इव-वादयः न
स्ति अतः सादृश्यमुखेन लक्षणायां नास्ति पौनरुक्त्यप्रसङ्गः। यत्र
इवादयः प्रयुज्यन्ते तत्र उपमानवानकस्य इवाते, सादृश्यप्रतिरोधि
भूतस्यापमानमात्रस्य वाच्यतया लक्ष्योपमैयन्तीवाच्यत्वात् कत
पुनरुक्तिरिति, उपमैयलक्षणायां अवाच्यत्वमिति। एतद् यदुच्यते
तन्-सादृश्ये लक्षणाकृतोऽपि सादृश्यरूपशब्दोपात्तत्वेनोपमालकार-
प्राप्तिः, 'सरोपलक्षणायां रूपकादिरलंकारो नोपमैति वाक्यात्
तयोर्विधास्यासामञ्जस्यमापेक्षते'। न हि सादृश्यस्य वाच्यत्व एवोपमा,
लक्ष्यत्वेऽपि सा स्मादेव, यथा कमलसुहृन्मुखमित्यादी मुहुरादिपदेन
सादृश्यं लक्ष्यते। सादृश्यस्य वाच्यत्वलक्ष्यत्वभ्यामुपमायावीकारे
'पादाम्बुजम् भवतु मे' इति पद्ये उपमितं व्याप्रादिभिः... इति सूत्रेण
समासादुपमालकारः, मयूरव्यसकादिनृत्तद्रूपकालंकारः इत्यनयोरेक-
वचाराणां मत्वा कथमुपमारूपकयोनिर्गमः स्यात्। 'पादाम्बुजम्' इत्यत्र
'अम्बिकाया गञ्जीरशिञ्जितमनेहरे' पदाम्बुजं यो विजयाय भवतु
इति वाक्यार्थे मञ्जीरयोगः पाद एव सभक्त्यति तदनुकूल्येन
पूर्वपदार्थप्रधानोपमितसमासः तस्य युक्तोपमालंकारो भवति।
'सम्यनिश्रम्ब' इति पद्ये अपरिमितभक्तिभावो देवा यस्य चरणारविन्द-
मन्त्रिण उत्तंसयन्ति' इति वाक्यार्थे उत्तंसंक्रियायामाविन्दस्वी-
प्रयोगित्वात् चरणारविन्दे 'त्यत्रोत्तरपदप्रधानतया मयूरव्यसकादिसमासः
तस्य युक्तरस रूपकालंकारो भवति, इति व्यवस्था सर्वैः स्वीक्रियते,

सादृश्यस्य विघटेत सादृश्यलक्षणायाम्। तथा च रूपकं
अम्बिकादिपदानामरविन्दत्वादाकारं विहाय आरुण्यादिसाधारण-
धर्ममुखेन तन्मूलसादृश्यमुखेन वा चरणारविन्दलक्षकत्वं न युज्यते।
यतोहि उत्तरपदप्रधानत्वात् आरुण्यसादृश्ययोगे भवोपमितमात्रा-
प्राधान्ये मयूरव्यसकादिसमाश्रयणोऽपि उपमितसमासाश्रयणत्वं
पूर्वपदार्थचरणस्यैव प्राधान्याप्राप्तिः, तथा च चरणारविन्दसमा-
नन्मूलत्वेन वाक्यार्थबोधविरहापत्तिः। नीलोत्पलमित्यत्र गुणजात्यो-
जितप्राधान्ये भवति व्यवस्था, किन्तुत्तरपदप्राधान्ये जातौ गुणे क
कथमुत्तंसयन्तिकर्यं पठते। अतः सरोपलक्षणायां साधारणधर्ममुपेक्षेन
लक्षणा इत्युक्तम्।

सरोपलक्षणा में उपमेय तथा उपमान दोनों में अनुगत जो साधारण
धर्म, उसके एकता या उसके प्रभाव से लक्षणा करना भी उचित नहीं
है। क्योंकि उस उदाहरण में यदि साधारण धर्म का भी किसी अन्यपद से
उपादान हो, तो पुनरुक्त दोष की प्राप्ति होने लगेगी। जैसे-
ताराभिरामपरिणहलसत्

हे सूर्योत्तम ! ताराओं में मनोहर विशाल शोभामान ऐतत्काल
वाले, शरदन्तश्चि (उरः पक्ष म), आनन्दमनोहर विशाल तथा कमुरादि
अङ्गसम्बन्धित हैं। मयूरपिच्छ के समान कर्तुंति ऐसे लक्ष्यरूपकपी शरदन्तश्चि
को प्राप्त कर आपका भीमरूपकपी पूर्णनन्द। पूर्ण कान्तिरखा कर साक्षात्
कर रहा है।

यहाँ 'सद्व' अन्तश्चिम्' इस सरोपे के उदाहरण में परिगणित
मेककत्वार्थ साधारण धर्म भी शब्दतः उपात्त लक्ष्य मय है। यदि यह कहे
कि उपात्त धर्म के अतिरिक्त, धर्ममुख से लक्षणा करेंगे तो यह कहना
शक्य नहीं, क्योंकि यहाँ उपात्त परिगणितमेककत्वार्थधर्म से अतिरिक्त
सामान्यधर्म स्मरित न होने पर भी, सदाहरे को परिपूर्ण वाच्यार्थ की
प्राप्ति हो रही है। यदि इससे अतिरिक्त इत्युपात्तसाधारणधर्म को भी लें,
तो कवित्व का अङ्ग नहीं होगा। अन्तः ऐसे स्थलों में, कवि का भी,
उपात्त धर्म के अतिरिक्त धर्म, के बंध कर, कोई अप्रियाय भी नहीं है।

यदि यह कहे कि यहाँ सरोपलक्षणा न माने, क्योंकि धर्म का
शब्दतः कवन कर दिया गया है सरोपा तो 'मयूरव्यसकादयश्च' सूत्र के
उपगम से होती है जिसका विशद इस प्रकार करना होगा 'उर एव
उपगम से होती है जिसका विशद इस प्रकार करना होगा 'उर एव
शरदन्तश्चिम्' इति। यदि हम यहाँ उपमित व्याप्रादिभिः सामान्याप्रयोगे
सूत्र का उपगम का 'उर' शरदन्तश्चिम्ब' ऐसा विशद करें, तो क्या हानि
होगी। क्योंकि इसमें विशदवाचकस्य 'इव' सूत्र शीकर सादृश्य का

प्रतिपादन कर देना फिर उपमानवाचक का उपयोग में लक्षणा करने का प्रयत्न नहीं उठेगा। आलङ्कारिकों ने भी वही लक्ष्योपमा माने हैं इसमें कोई शंका नहीं है, तो ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि यहाँ भी मेघकल्पादि साधारण धर्म जब शब्दों कह दिए गये हैं तो उपमित समान नहीं हो सकती क्योंकि कि 'समान्याप्रयोगों' सुत्र में कहा गया है। इसीलिए सामान्यधर्म के प्रयोग स्थल में आलङ्कारिकों ने उपमा न मानकर सारोपलक्षणात्मक रूपकालंकार ही माना है। उपमित समान में धर्मवाचक रूप दिखलक्ष्योपमा को ही माना जाता है यदि सामान्य धर्म के प्रयोग होने पर भी उपमित समान माना जाता तो केवल वाचक रूप एकलक्षणा का ही उदाहरण होता।

यदि यह कहे कि शब्दों धर्म का जहाँ उपादान हो वहाँ साधारण-धर्ममुख से लक्षणा न मानकर सादृश्यमुख से लक्षणा यानी ज्ञेय-सादृश्य के वाचक, यहाँ 'इव' का आदि, पर का प्रयोग न होने से धर्मरूपकत्व शेष नहीं होगा। साधारण धर्म के प्रयोग होने पर भी सादृश्यप्रतियोगिभूत उपमानवाचक, उपमानवाच्यपरक होने से, उपमेयलक्षणा, वाच्य का विध्वंस भी नहीं होगी तो ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि ऐसा करने पर लक्षणा से सादृश्य जब शब्दोपलब्ध होगा, तो उपमालंकार की प्राप्ति होगी, जब कि सारोपलक्षणा में रूपकालंकार होता है उपमा नहीं। इस प्रकार उपमा रूपक का विभाग असम्भव है पर धृ जायेगा। यह भी नहीं कह सकते कि सादृश्य जब अभिधवा, शब्दोपलब्ध होने पर नहीं, क्योंकि 'कमलमुखमुख' पर उपादा होगी, लक्षणा शब्दोपलब्ध होने पर नहीं, क्योंकि 'कमलमुखमुख' में सूक्ष्म पर का सादृश्य में लक्षणा है तथा वहाँ उपमा है। और एक विवेचन बात यह होगी कि 'पादात्मक भवतु' में विजयाय 'यश' में यदि उपमित-व्याघ्रादिधर्म से समान होगा तो उपमा होगी और यहाँ जब मधुरव्यसकादि मुख से होगा तो रूपक होगा इस प्रकार उपमा रूपक का निर्माण करना कठिन हो जायेगा। पादात्म्यत्व में, मञ्जीतरिज्जितादि विरोधन चरण के अनुकूल है अम्बुज के नहीं। अतः इस अनुकूलता के लिए पूर्ववत् प्रधान उपमित समान से उपमालंकार होता है। और जहाँ यस्यानिश दिविष अर्थात् अर्पणितभाक्तिभाव से विनम्र देवगा, निरन्तर निमग्न चरणकमल की उलस (कर्णभूषण) बनते हैं। यहाँ कर्णभूषण के अनुप्राण अरविन्द है न कि चरण, अतः उत्तरपदप्रधान, मधुरव्यसकादि से सामान्य होकर रूपकालंकार होता है। इस व्यवस्था का आदेश सभी आलङ्कारिक करते हैं। यह व्यवस्था तब नहीं हो पायेगी जब चरणारविन्द' इत्यादि रूपकस्थल में अरविनन्दि पतों का, अरविन्दत्वादि किं इतं कर, अरुणिता आदि साधारणधर्ममुख से या तन्मूलकसादृश्यमुख से उसे उपमेय का लक्षक माने। ऐसा पानने पर उत्तर पदाब्ज जो आरूप्य

या सादृश्य गुण है उनकी प्रधानता होने पर, मधुरव्यसकादि चरण का समाश्रयण करने पर भी उपमित सूत्र, के समाश्रयण के समान पूर्णतया चरण की ही प्रधानता होने लगेगी, तथा उपमितसमास से जो उत्तसजाति के अनुकूल स्थिति हो रही थी, वैसी ही वहाँ होने से उत्तसजातिपर ही होगा। 'नीलोत्पलादि' में गुण जाति दोनों की स्थिति में जातिप्राधान्य की व्यवस्था मान्य है। किन्तु यहाँ उत्तरपदाब्ज के प्राधान्य में अरविज्ज जाति की प्रधानता या आलुत्पादि सादृश्यादि गुण जो प्रधानता की स्थिति में उत्तसन की अनुकूलता का अभाव हो रहेगा इसीलिए सारोपलक्षणा स्थल में साधारण धर्म या सादृश्य मुख से लक्षणा करना अनुकूल है।

तथा च तादृश्यप्रतीतिरत्र फलमित्युक्तम् सामान्यधर्ममुखेन सादृश्यमुखेन वा लक्षणेपगमे तादृश्याभिव्यक्त्ययोगात् तथा हि- 'कान्तिमन्मुखम्', 'चन्द्रसदृशं मुखम्' इत्यादिरर्थः संपन्नते। न चैतावता तादृश्याभिव्यक्तिः, 'कान्तिमन्मुखम्' इत्यादिप्रयोगेणैव तत्प्रसङ्गात्। न च- 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ स्रोतस्तीरयोरभेदा-ध्यवसायबन्धुबन्धयोरकशब्दबोधयतया केवलशब्दशक्तिमूल-व्यञ्जनव्यापारेण तादृश्याध्यवसाय इति नातिप्रसङ्गः-इति वाच्यम्, तदा मुखकान्तिमतोरिव तादृश्याभिव्यक्तेः संभवेन 'वक्त्रेन्दो तव सत्यं यदपरः शीतांशुश्चम्भते' इत्यादावानुभाविक्तस्य मुखत्वोपरक्तचन्द्रतादृश्यप्रत्ययस्याविलष्टसमर्थनार्थं भवात्। तथा 'मुखं कमलम्' इत्यादि व्यासेणैव सर्वत्रविषयविषयिपदयोः सामानाधिकरण्ये सारोपलक्षणा इत्यप्युक्तम्।

'विद्वन्मानसहसं वैरिकमलासंकोचदीप्तद्युते !

दुर्गामार्गणनीललोहित समित्स्वीकारवैश्वानर।

सत्यप्रीतिविधानदक्ष विजयप्राग्भवमीम प्रभो !

साम्राज्यं वरवीर वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः॥'

इत्यत्र 'हंसादि' शब्दानां वर्ण्ये राजनि प्रत्यासक्तिरूपमुख्य-सादृश्याप्रतीत्या लक्षणासंभवात्। तथा हि-विदुषां मानसं हृदयमेव मानसं सर इत्यादि श्लेषभित्तिकाभेदाध्यवसायलभ्यमानस-वासित्वादिसाधारणधर्मनिबन्धनमेव तत्र सादृश्यं वाच्यम्। तदप्यमुखकमलादिवत्सदृशसादृश्यस्याभावात्। न च-तेन

सादृश्येन लक्षणा संभवति, तल्लम्बकस्य श्लेषस्य रूपकौत्था-
प्यतया रूपकापेक्षलक्षणादशायां तस्य बुद्धिपथानरोहात् । न
च-श्लेषस्यैव प्राथम्यं किं न स्यात्-इति वाच्यम्, रूपकं
विना कवेरर्थद्वयविवक्षायामिह गमकाभावेन श्लेषानिवृत्तेः ।
अभिधायः प्रकरणनियम्यत्वपक्षे प्राचीनाभिधते रूपकात्प्रक-
रणसंबन्धरहितसारोपलक्षणार्थान्तराभिधानस्यैव संभवात् ।

‘रूपकं पूर्वसंसिद्धं श्लेषं तज्ज्ञापयेद्यदि ।

तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेष इष्यते ॥’

इति श्लेषरूपकयोर्विभागं व्यवस्थापितवता चक्रवर्तिनाय-
स्मिन्नुदाहरणे रूपकोपवर्णनेनात्र श्लेषपञ्चात्वात्पत्त्यस्य स्फुटी-
करणाच्चेति । अत्रेदं तत्त्वम्- ‘विद्वन्मानसहस्र-’ इत्यादौ
‘हंसादि’पदानां वर्ण्यै राजनि लक्षणा नाङ्गीकर्तव्या, सामाना-
धिकरण्येन वर्ण्यस्य राज्ञः प्रसिद्धहंसजातीयादिभिरभेदस्य
वाक्यार्थविधयैव प्रतीयुपपत्तेः । न च-एवमभेदप्रत्ययसंभवेऽपि
तादृश्यप्रत्ययो न लक्षणा विना सिध्येत् । स एव च
विषयविषयिपदसामानाधिकरण्यस्थले सर्वत्र विवक्षितः इति
वाच्यम्, तत्र मानाभावात् । ‘ऊर्ध्वं विरञ्चिभवनान्तव
नाभिपद्मात्’ इत्यादौ विषयविषयिपदसामानाधिकरण्ये-
ऽप्येवकारसाक्षात्पदाभ्यामुपस्थले प्रसिद्धपरमपदाभेद-विवक्षया
एव स्फुटीकरणाच्च ।

यत्तु सारोपायां तादृश्यप्रतीतिः फलान्तरवृत्तं तदप्ययुक्तम् ।
तादृश्यप्रतीतिं नोभयानुगतसाधनधर्ममुखेन लक्षणा न तु सादृश्यमुखेन
लक्षणा भटते । मुखचन्द्र इत्यत्र चन्द्रपदस्य सामान्यधर्ममुखेन लक्षणाया
कान्तिमन्मुखमित्येव प्रतीतिः । सादृश्यमुखेन लक्षणायां ‘सादृश्यवन्’
सदृशं वासुखं इति प्रतीतिर्भवति । उभयथाऽपि तादृश्यप्रतीतिं न
संपद्यते । चेद् धर्मरूपकान्तिलक्षणाऽनन्तरं ससर्गमयादया स्वाश्रय-
सम्बन्धेन कान्तिमन्मुखमिति प्रतीतिं चन्द्रतादृश्यमिष्यते तर्हि
कान्तिमन्मुखमिति शब्दतः प्रतिपादनेनापि तत्तादृश्यं प्रतीयते ।

चेदेकपदात्तायोगैरर्थयोरभेदाध्यवसायीत्या, एकैव चन्द्रपदेना

गतयोर्मुखचन्द्रयोरर्थयोरभेदाध्यवसायात् तादृश्यप्रतीतिः शब्दशक्तिमूल-
व्यञ्जनव्यापारेण संभवति, अतः अभिधोक्तकान्तिमन्मुखमित्यादौ
नातिप्रसक्तिसिंति उक्तावपि न निस्तारः, यतो हि चन्द्रपदेन
चन्द्रकान्तिर्गुणा लक्ष्यते अभेदसंयोगान्वयाया कान्तिमन् इति
संसर्गनर्थादया लक्ष्यते, यथा च कान्तिमदीभनमन्मुखमिति बोधे
कान्तिमन्मुखयोरैव तादृश्यप्रतीतिः न तु चन्द्रमुखयोः । अतः ‘वक्त्रेदौ
तव सत्यं यदपरः शीतलशुक्लवर्णतः’ इत्यादौ ‘वक्त्रेदौ’ इत्यत्र
मुखत्वोपरक्तचन्द्रतादृश्यप्रत्ययः सर्वानुभाविकः किल्लक्षमसर्गानं विना
अनम्भवः । किल्लक्षमसर्गमिति परम्परया समर्थनम्, ‘स्वसम्बन्ध-
भेदात्स्वस्याप्यभेदः’ इति परम्परारम्भः । एकतोऽपि तादृश्यचन्द्रसदृशाया-
भेदावगमनात् सदृशमन्मुखोः संसर्गतोऽपेदात् चन्द्रमुखयोरप्यभेदावगम-
इति भावः । अतः किल्लक्षमसर्गतया तादृश्यप्रतीतिः । मुखं कमलम्
इति व्यासस्थलेऽपि एतादृशी एव स्थितिः ।

ननु यत्र यत्र विषयविषयिपदयोः सामानाधिकरण्यं तत्र सर्वत्र
सादृश्यमुखेन क्रियमाणा सारोपलक्षणा इत्यपि न वक्तुं युक्तम् ।
यत्र प्रतिष्ठतया सादृश्यस्याप्रतीतिस्तत्र लक्षणासंभवात् । यथा
विद्वन्मानसहस्र इत्यत्र

अत्र प्रकृत राज्ञा, अप्रकृतं च हंसादिः । सादृश्यमुखेन क्रियमाणायां
सारोपलक्षणायां प्रत्यासक्तिरूपं यत् सादृश्यं तदप्येव तदप्येव प्रतीति-
कथं या सिद्ध्यति ? ननु मुखकमलादिवत्प्रसिद्धसादृश्यस्याभावोऽपि
विद्वन्मानसहस्र इत्यादौ विदुषा मानसं चित्तमेव मानसं मानसस-
इति श्लेषभित्तिकाऽभेदाभ्यवसायैव मानसवासिरूपः समानधर्मः,
अस्यापि मूलमिति वक्तुं युक्तम् । किन्तु तेन सादृश्येन लक्षणा
संभवति तत्सादृश्यलम्बकः यः श्लेषः स रूपकौत्थाप्यः अतो
रूपकापेक्षसारोपलक्षणादशायां, श्लेषो बुद्धिपथमेव सारोपलक्षितं कथं
सादृश्यप्रतिपत्तिः सारोपलक्षणायां हेतुः । न च सादृश्यचिन्तादक-
श्लेष एव रूपकात् पूर्व इति वक्तुं शक्यते युक्तिविरोधान् । यतो
हि यावत् रूपकं न बुद्धिपथमसरोहेतुं तावत् विद्वन्मानसेति
कवेरर्थद्वयविवक्षाया गमक किमपि नास्ति । गमकाभावे श्लेषानिवृत्ते ।
रूपकालंकार एव प्रकृतम्, अभिधया प्रकृतार्थो नियम्यते अतः,
यावत् प्रकृत रूपकं न बुद्धावसरोहेतुं तावत् अप्रकृतस्य

सारोपलक्षणाधार्तन्तरस्य श्लेषस्यैव विभागस्येवायं भवति । श्लेषरूपकयोर्
भेदं व्यवस्थापितवता चक्रवर्तिनाऽपि रूपकापेक्षया श्लेषस्य पाश्चात्य-
त्वमेव स्फुटीकृतम् यथा -

रूपकं पूर्वसिद्धं श्लेषं तज्जापयेद् यदि ।

तदा रूपकमेव स्यादन्यथा श्लेषोऽप्युच्यते ॥

पूर्वसिद्धमेव रूपकं श्लेषं निष्पादयति इति भावः ।

वस्तुतोऽत्रैव ज्ञातव्यम् - हंगारिणुपयोगभेदस्य सामानाधिकरण्यानैव
वाक्यार्थविधया, (संस्मरणेति) सम्पन्नान् अत्र हंगारिपदासं प्रकृतं
राजनि लक्षणा न कर्तव्या । ननु संस्मरतीति भेदप्रत्ययसंभवेऽपि
तादृश्यप्रत्ययाय लक्षणाऽहोर्कर्तव्यैव, यतोहि तादृश्यप्रत्यय एव
विषयनिर्णयसामानाधिकरण्यस्थले सर्वत्र विवक्षित इति न वक्तव्यम्,
सामानाधिकरण्येभ्योऽप्येवैव स्फुटीभवति न तादृश्याविवक्षा । यतो
हि ऊर्ध्वविरोधोऽभवत् तत्र तादृशप्रदम् इति पद्ये
ऊपरपादयो विषयविषयिणी सामानाधिकरण्यान् निर्दिष्टयोरपि
पदान्तर्गतोपात्त - एव - साक्षात् पदाभ्यामभेदविवक्षैव स्फुटीभवति
न तादृश्याम् । ननु तादृश्य विज्ञायाभेदविवक्षा यद्यत्र स्वीक्रियते तदानीं
विषय्य भेदात्मिकातिशयोक्तिरिव कथं न मन्यते, कथञ्च तादृश्यरूपकं
मन्यते, यतोहि विषय्यभेदोऽतिशयोक्तिः, तादृश्य रूपकमिति व्यवस्था
प्राचीनदेवता ।

‘सारोप’ मे तादृश्यप्रतीति फल है’ यह भी कहना उचित नहीं प्रतीत
होता है । क्योंकि सामान्यधर्म मुख से या सादृश्य मुख से लक्षणा मानने
पर तादृश्य की अभिव्यक्ति का योग ही नहीं हो सकता । क्योंकि उससे
‘कानिमत मुखम्’ बन्धमदृश मुखम् अर्थात् कानिमान् मुख है यह
धर्ममुख से, तथा चन्द्रमदृश मुख है यह सादृश्य मुख से लक्षणा होने पर
प्राप्त होगा । इन दोनों में तादृश्य की अभिव्यक्ति नहीं हो रही है । अन्यथा
‘कानिमत मुखम्’ आदि ऐसे शब्द प्रयोग से भी तादृश्य की अभिव्यक्ति
होती ।

यदि यह कहे कि जैसे ‘गङ्गायां घोष’ में श्रोत तथा तीर का अभेदा-
व्यवसाय होता है वैसे ही एक शब्द चन्द्र मे बोध मुख तथा चन्द्र का
शब्दजातिमूल व्यवज्ञान से तादृश्य का अभ्यवसाय हो सकता है इसमें
कोई अतिव्याप्ति होगी ? तो ऐसा नहीं कह सकते । क्योंकि धर्ममुख से
लक्षणा होने पर मुख एवं कानिमत की ही तादृश्यापेक्षानि सम्भव है
न कि चन्द्र एवं मुख की । जब कि मुख चन्द्र का तादृश्य अपेक्षित है जैसा

कि “वक्त्रेन्दौ तव” । अर्थात् “तुम्हारे मुखचन्द्र के रहने पर जो यह दूसरा
चन्द्र उदित हो रहा है” । यहाँ, अनुभव में स्पष्ट हो ने वाला मुखत्व से
उपरिजित चन्द्रतादृश्य, का प्रत्यय होने में अकिल्ब्र समर्थन असम्भव है ।
इसी प्रकार ‘मुख कमलम्’ आदि सामसरहित स्थल में जानना चाहिए ।
विषयविषयिवाचक पद के सामानाधिकरण्य स्थल में सादृश्यमुख
वाली सारोपलक्षणा सर्वत्र होगी ही, यह भी कहना उचित नहीं है । जैसे
विद्वत्मानहंस ।

हे रवीन्द्र ! प्रभो ! सैकड़ों ब्राह्मण वर्षों तक आप भरपूर साम्राज्य करें,
जो आप, विद्वानों के चित्त रूप मानसरोवर के हंस है शत्रुओं के लक्ष्मों
के संकोच रूपी कमल विकास के सूर्य है, दुर्ग का अनाश्रयणरूपी दुर्ग
के (मार्गण) अन्वेषण, के लिए शंकर है । सङ्ग्राम का स्वीकार रूपी
गम्भीरा के स्वीकार के लिए बन्धि है । मन्त्र से पूर्ण रूप बली में अग्नीति
के लिए दक्ष है, विजय की प्रथम सन्तान करी अर्जुन, के पूर्वज भीम है ।

यहाँ विद्वानों का मानस (चित्त) ही मानसरोवर, रिपु की लक्ष्मों का
संकोच ही कमल का अग्रणीत्व, दुर्ग का अग्रणी (अग्रवक्त्र) ही
दुर्गका मार्गण है सङ्ग्राम का स्वीकार ही गम्भीरा का स्वीकार है मन्त्र से
प्रीति ही सती में अग्नीति है तथा विजय प्राप्ताव ही अर्जुन का अग्रज
है इन शिल्प पदों से उत्थाय दो अर्थों के अभेद के कारण शिल्प
साधर्म्य है । रूपकालंकार है ।

यहाँ प्रकृत राजा उपमेय, तथा हंस आदि उपमान है हंस की राजा
में लक्षणा करने के लिए मुख्य सादृश्य रूप जो हेतु स्वीकृत है उसकी
यहाँ प्रतीति ही नहीं हो रही है । अतः सादृश्यमुख से अप्रतीत सादृश्य
वाले स्थलों में सारोपा कैसे होगी । यदि यह कहे कि यहाँ भी सादृश्य
है क्योंकि “विद्वत्मानसत्त्व” विद्वानों का हृदय ही मानसरोवर है इस
प्रकार श्लेषभित्तिका द्वारा अभेदाध्यवसाय से प्राप्य मानसवासित्व रूप
साधारण धर्म ही इस सारोपा का कारण है तो यह नहीं कह सकते ।
क्योंकि ‘मुख कमलम्’ की तरह राजा हंसदि में कोई प्रसिद्ध सादृश्य
नहीं है । मानसवासित्वरूपी सादृश्य से लक्षणा नहीं कर सकते क्योंकि
सादृश्य का प्रापक जो श्लेष वह रूपक से उत्थाय है अतः जब तक
रूपक सालम् नहीं हो जाता तब तक श्लेष बुद्धिपथ में ही नहीं आता ।
यदि यह कहे कि श्लेष की ही प्रथम प्रतीति क्यों नहीं हो जाती तो ऐसा
न ही कह सकते, क्योंकि रूपक के बिना श्लेषज अर्थद्वय की विवक्षा में
कोई गमक न होने से श्लेष की निवृत्ति ही नहीं हो सकती है ।
प्राचीनानुसार प्राकरणीक अर्थ में अभिधा का नियमन रूप सिद्धान्त के
कारण, प्राकरणीक रूपक की पूर्व, अप्राकरणीक सारोपलक्षणासम्बन्धी
अर्थान्तर (श्लेषादि) का अधिधान ही असम्भव है ।

श्लेष तथा रूपक के विभाग को स्पष्ट करते हुए चक्रवर्ती ने कहा भी है कि — रूपक पूर्वसिद्धं । अर्थात् पूर्व सिद्ध रूपक जब श्लेष का आपन करें तब रूपक होगा, और जब श्लेष ही पहले सिद्ध हो तो श्लेष ही होगा। इस प्रकार रूपकालंकार के उपवर्णन से श्लेष का पश्चात् भावित्व स्पष्ट है।

अतः ऐसे स्थलों में रूपक होने का जो रहस्य है उसे इस प्रकार समझना चाहिए। 'विद्वन्मानसहस्रं' इत्यादि स्थलों में हंस आदि पद का राजा प्रकृत में जो लक्षणा की जा रही है उसे नहीं करना चाहिए, बिना लक्षणा के ही सामानाधिकरण्य के कारण प्रकृत राजा का प्रसिद्ध हंस आदि से अभेद, वाक्यार्थ विधा से ही कर लेना चाहिए। वाक्यार्थ विधया अर्थात् संसर्गतः। यह नहीं कह सकते कि वाक्यार्थविधा से दोनों के अभेद का प्रत्यय सम्भव होने पर भी तादृश्यप्रत्यय के लिए तो लक्षणा करना ही होगा। क्योंकि तादृश्य ही विषय विषयी के सामानाधिकरण्य स्थल में सर्वत्र विवक्षित है यह भी नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें कोई प्रमाण नहीं है। ऊर्ध्व विरजिबधनत्वात् इसे पूर्व पद्य में उर एवं परमपद दोनों के सामानाधिकरण्यस्थल में भी श्लोक में गृहीत 'एव' एवं 'साक्षात्' पद्यों से दोनों का अभेद ही विवक्षित प्रतीत हो रहा है तादृश्य नहीं।

न च-एवं 'विद्वन्मानसहस्रं' इत्यादावतिशयोक्तिरेव स्यात् 'विषयस्य विषयिताद्व्युपे रूपकम्, विषय्यभेदेऽतिशयोक्तिः' इति व्यवस्थितः। तथा च- 'विषयविषयिपदसामानाधिकरण्यस्थले रूपकम्, विषय्यभेदमात्र- निर्देशस्थलेऽतिशयोक्तिः' इति व्यवस्थाविभागः इति वाच्यम्।

‘हृत्पङ्कजानि भजतां प्रतिबोधयन्ती

संसारसागरमपि प्रविशोषयन्ती।

ज्योत्स्ना त्वदङ्घ्रिन्नखचन्द्रसमुद्रदूतेय-

मन्यादृशीमभयदां प्रकृतिं बिभर्ति॥’

इत्यत्र नखकान्तिरूपविषयनिरागणेन 'ज्योत्स्ना' इति विषयि-पदमात्रनिर्देशोपि पङ्कजविकासकत्वादिना प्रसिद्धज्योत्स्नातो व्यतिरेकेण तत्तादृश्यमात्रप्रतीतिदर्शनेन व्यवस्थाद्वयस्याप्य-शक्याङ्गीकारत्वात्। तथा च यदि 'तादृश्ये रूपकम्, अभेदेऽतिशयोक्तिः' इति व्यवस्थां परित्यज्य 'विषयविषयिपदसामाना-

धिकरण्ये रूपकम्, विषयिपदमात्रनिर्देशोऽतिशयोक्तिः' इति व्यवस्थाद्रियते, तदा 'विद्वन्मानसहस्रं-' इत्यादावभेदप्रतीतो सत्यामपि रूपकं संभवतीति न काचिदनुपपत्तिः। यदि च तथा सति रूपकतिशयोक्तयोः शब्दवैचित्र्यमात्रभेदप्राप्त्या परस्परमर्थालंकाररूपत्वं न स्यादित्याद्या व्यवस्थाद्रियते, तदा ज्योत्स्ना त्वदङ्घ्रिन्नख-' इत्यादौ विषयिपदमात्रनिर्देशोपि प्राचीन-मर्यादायामतिशयोक्तिमपहाय रूपकमेवाङ्गीकर्तव्यम्। तद्वत् 'विद्वन्मानसहस्रं-' इत्यादौ विषयविषयिपदसामानाधिकरण्येऽप्यतिशयोक्तिरङ्गीक्रियताम्। किमनुपपन्नम्। तस्मात्-एतादृशस्थले समभिव्याहारादभेदप्रतीत्युपगमे न कश्चिद्दोष इति व्यर्थो लक्षणोपपादनप्रयासः। न च एवं सर्वत्र विषयविषयिपदसामानाधिकरण्यस्थले समभिव्याहारादभेदप्रतीतिवैकृत्यं शक्यत्वा-त्त्वचिदपि सारोपलक्षणा न स्यात्-इति वाच्यम्, इष्टापत्तेः॥

॥ इति श्रीमदण्यदीक्षितविरचिते वृत्तिवार्तिके

लक्षणावृत्तिनिर्णयो नाम द्वितीयः परिच्छेदः॥

॥ समाप्तश्चायं समुपलभ्यमानो ग्रन्थः॥

इत्थं विद्वन्मानसहस्रं इत्यादावपि विषय्यभेदे अतिशयोक्तिरेव व्यवस्थीयताम्' इति न वक्तव्यम्। अपितु विषयविषयिसामानाधिकरण्यस्थले (तादृश्ये) रूपकं, विषय्यभेदमात्रनिर्देशस्थले-अतिशयोक्तिरिति व्यवस्थाविभाग एव नाङ्गीकर्तव्यः। यतोहि सामानाधिकरण्यस्थलेऽभेद विवक्षा दर्शिता, अतिशयोक्तिस्थले तादृश्यमपि दृश्यते यथा - 'हृत्पङ्कजानि इति।

हे भगवन् ! त्वच्चरणनखचन्द्रोद्भूतेयं ज्योत्स्ना (नखकान्तिः) भक्तानां हृदयकमलानि विकासयन्ती भवसागरं शोषयन्ती सती अन्यादृशी ज्योत्स्नाविलक्षणां अभयदां प्रकृतिं बिभर्ति।

अत्र विषयनखकान्तिनिरागणेन ज्योत्स्नेतिविषयिमात्रनिर्देशेन निर्णीयव्यवसानाऽतिशयोक्तिः स्फुटा। प्रसिद्धज्योत्स्ना पङ्कजं न विकासयति, नखकान्तिस्तु हृत्पङ्कज विकासयति इति पङ्कजविकास-

कत्वादिना नखद्युतौ, प्रसिद्धज्योत्स्नातो व्यतिरेकेण ज्योत्स्नाताद्वयमात्रं प्रतीयते नाभेद इति।

अतस्ताद्वय्ये रूपकं, अभेदेऽतिशयोक्तिरिति व्यवस्थां परित्यज्य विषयविषयिणोरुभयोः सामानाधिकरण्येनोपादाने रूपकम्, विषय-निगरणेन विषयपदमात्रनिर्देशेऽतिशयोक्तिरित्येव व्यवस्था मन्तव्या। तदानीं विद्वन्मानसहंस इत्यादावभेदप्रतीतावपि रूपकम् ज्योत्स्नेति ताद्वयप्रतीतावाप्यतिशयोक्तिः संभवतीति न काचिदनुपपत्तिः।

ननु यदि सामानाधिकरण्येन विषयविषयिणोर्निर्देशे, रूपकम् विषयिमात्रनिर्देशेऽतिशयोक्तिस्तदानीं बाह्यशब्दमात्रनिष्ठत्वेनानयोः शब्दालङ्कारत्वं प्राप्तम्, अर्थालङ्कारमध्ये कथं गणीतौ ? इत्युच्येत, तदानीं ज्योत्स्ना त्वदङ्गिप्रनख इति पठे विषयिमात्रनिर्देशेऽपि प्राचीनमर्यादायामभेदविवक्षात्मिकायामतिशयोक्तिर्विहाय, ताद्वयरूप-रूपकमङ्गीकृतव्यम्, तथा च विद्वन्मानसहंस, इत्यादौ विषयविषयि-पदसामानाधिकरण्येऽपि अभेदमादायातिशयोक्तिः स्वाक्रियताम् किमुपन्युनम्।

अतः एतादृशस्थले विषयविषयिणोः सामानाधिकरण्यस्थले समभिव्याहारादेवाभेदप्रतीत्युपगमे व्यर्थो लक्षणापपादनप्रयासः।

यदि सर्वत्र सामानाधिकरण्यस्थले समभिव्याहारादेवाभेद-प्रतीतिस्तदानीं सारोपलक्षणाया अस्वीकारेऽपि न कश्चन दोषः।

यदि यह कहें कि विषय का विषयिताद्वय होने पर रूपक, विषयी से अभेद होने पर अतिशयोक्ति हो इस व्यवस्था के अनुसार 'विद्वन्मानसहंस' या ऊर्ध्व इत्यादि स्थलों में अतिशयोक्ति ही मान ली जाय। तथा सामानाधिकरण्य स्थल में रूपक, एवं विषयी से अभेदमात्र में (अध्यवसानाश्रिति में) अतिशयोक्ति रूप व्यवस्थाविभाग बना रहे तो यह भी नहीं कह सकते।

क्योंकि हृत्पङ्कजानि भजता। अर्थात् हे भगवन् आप के चरणनख रूपी चन्द से प्रादुर्भूत ज्योत्स्ना (नखकान्ति) भक्तों के हृदय कमल को विकसित तथा, संसार सागर का शोषण करती हुई, एक विलक्षण ही अभय प्रकृति को धारण करती है।

यहाँ नखकान्ति रूप विषय का निगरण कर विषयी ज्योत्स्ना' मात्र के निर्देश में भी पङ्कजविकासकत्वादि प्रसिद्धज्योत्स्ना से विलक्षण (भिन्न) धर्म से ताद्वय मात्र की प्रतीति हो रही है। इस प्रकार उपर्युक्त सामाना-धिकरण्य स्थलों में ताद्वय न होकर अभेद की प्रतीति से, तथा इस

निगणात्मक अतिशयोक्ति में अभेद की प्रतीति न होकर ताद्वय की प्रतीति से, प्राचीनोक्त ताद्वय या अभेदाभिव्यक्ति रूप व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यदि ताद्वय में रूपक तथा अभेद में अतिशयोक्ति होती है इस व्यवस्था को छोड़कर विषय विषयी के सामानाधिकरण्य में रूपक, तथा विषयीमात्र पद के निर्देश में अतिशयोक्ति होती है इस व्यवस्था को स्वीकार करते हैं तो विद्वन्मानसहंस' आदि में रूपक संभव है किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है।

यदि यह कहें कि रूपक तथा अतिशयोक्ति में केवल शब्द वैचित्र्य मात्र भेद है अर्थात् एक स्थान पर दो विषयविषयी का उपादान तथा अन्यत्र केवल विषयीमात्र का उपादान, इस बाहरी आकार से ही भेद है अर्थात् प्राप्त ताद्वय या अभेद रूप भेदक यदि नहीं है तो इसे शब्दालंकार ही क्यों न कहें, इसे अर्थालंकार क्यों कहा जाय, तो इसका उत्तर यह है कि ज्योत्स्ना त्वदङ्गि इत्यादि स्थल में जहाँ विषयी मात्र का निर्देश है वहाँ भी ताद्वय की प्रतीति होने से प्राचीन व्यवस्था के अनुसार अतिशयोक्ति न मानकर रूपक ही माने, तथा विद्वन्मानसहंस इत्यादि स्थल में जहाँ विषय विषयी पदों का सामानाधिकरण्य है वहाँ अभेदप्रतीति होने से अतिशयोक्ति मानलें। क्या हानि है।

अतः इससे स्पष्ट है कि ऐसे स्थलों में समभिव्याहार मात्र से अभेदप्रतीति के उपगम में कोई दोष नहीं है यहाँ लक्षणा के उपपादन का प्रयास व्यर्थ है। यदि यह कहते हो कि सभी विषय विषयी के सामाना-धिकरण्य स्थल में समभिव्याहार से ही अभेद प्रतीति कहीं जा सकती है सारोपलक्षणा कहीं होगी ही नहीं, तो कोई बात नहीं, इष्टावृत्ति है।

॥ इति श्री अप्यव्यदीक्षितविरचिते वृत्तिवार्तिके लक्षणावृत्ति-निर्णयो नाम द्वितीयः परिच्छेदः काशीहिन्दूविश्वविद्यालयीय साहित्यविभागाध्यक्षेण प्रोफेसरचन्द्रमौलिविद्वदिना व्याख्यातः॥

॥ समाप्तश्चायं समुपलभ्यमानो ग्रन्थः॥

श्रीनागेशभट्टविरचितायां वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषायां
व्यञ्जनानिरूपणम्

(अस्मिन्वृत्तिवार्तिकग्रन्थे व्यञ्जनावृत्तिनिर्णयस्य प्रारम्भ-
प्रतिज्ञातस्यापि सकलादर्शवददर्शनात्तन्निरूपणस्यात्यावश्यक-
त्वाच्च नैयायिकप्रबन्धेषु तदनादरेण वैयाकरणग्रन्थेषु तदादरेण
नागेशभट्टविरचितवैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषास्थ एव व्यञ्जना-
निर्णयो लिख्यते-)

मुख्यार्थसंबद्धसाधारणमुख्यार्थबाधग्रहाद्यप्रयोज्य-
प्रसिद्धाप्रसिद्धार्थविषयकधीजनकत्वं व्यञ्जना। सा चेयं शब्द-
तदर्थपदपदैकदेशवर्णरचनाचेष्टादिषु सर्वत्र, तथैवानुभवात्। 'अनया
काटक्षणाभिलाषो व्यञ्जितः' इति सर्वजनप्रसिद्धेस्तस्यां
चेष्टावृत्तित्वस्याप्यावश्यकत्वाच्च। एतेन- 'अर्थादीनां न
व्यञ्जकत्वम्, किंतु पदस्यैव' इत्यपास्तम्।

'रतिकाले विलोक्य श्रीनाभिपद्मे पितामहम्।

रसाकुलाच्छादयते दक्षिणं नयनं हरेः॥'

इत्यादौ 'हरि'पदेन 'दक्षिणनयनस्य सूर्यात्मकत्वम्,
तन्निमीलनेन सूर्यास्तः, तेन पदमसंकोचः, तेन पितामहस्थगनम्,
तेनाप्रतिबद्धं रतिविलसितम्' इति क्रमेण व्यङ्ग्येषु प्रतीयमानेषु
तत्तदर्थप्रतीत्युत्तमरेव व्यङ्ग्यप्रतीतेरर्थस्यापि व्यञ्जकत्वाव-
श्यकत्वात्।

'पश्यात्र नलिनीपत्रे बलाका दृश्यतेऽचला।

रम्ये मारकते पात्रे शुक्तिकेव च निर्मला॥'

इत्यत्रापि निश्चलत्वेन शुत्युपमया चाश्वस्तत्वम्, तेन
निर्जनत्वम्, तेन 'तदेवावयोः संकेतस्थानम्' इत्यादिषु क्रमेण
प्रतीयमानेषु तत्तदर्थव्यङ्ग्येष्वपि बोध्यम्। पदस्य च

तत्तत्स्वार्थबोधने उपरतत्वात्पुनःपुनरनुसंधानकल्पने गौरवम्,
तदननुभवाच्च। अनया चार्थबोधे जननीये वक्तृबोद्धव्यवाच्यादि-
वैशिष्टयज्ञानं प्रतिभा च नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धिः। तदुक्तम्-

'प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।'

इति। नवनवोन्मेषो जन्मान्तरयतद्धीजनकत्वज्ञानजन्य
संस्कारोद्बोधः। 'वक्रादिवैशिष्टयसहकारेण तज्जनिका बुद्धिः
प्रतिभा' इति फलितम्। एवं च शक्तिरेतज्जन्मगृहीतैवार्थ-
बोधिका, व्यञ्जना तु जन्मान्तरगृहीतापि, इत्यपि शक्तेरस्या
भेदकम्। इदमेवाभिप्रेत्य 'व्यञ्जना स्वरूपसती हेतुः' इति
प्रवादः। यद्यपि प्रागुक्तरीत्या लक्षणातोऽपि भेदः सिद्धः, तथापि
प्रकारान्तरेणापि भेदं वक्तुं 'मुख्यार्थः' इत्याद्युक्तम्। 'पश्यात्र
नलिनीपत्रे-' इत्यादौ वक्तृतात्पर्यविषयीभूतवाच्यार्थबाधाभावेऽपि
तज्ज्ञानाभावेऽपि प्राग्दर्शितव्यङ्ग्यप्रतीतेः, मुख्यार्थबाधज्ञानसत्त्वे
तदप्रतीतेश्च न व्या(वैय)ञ्जनिकबोधे तस्य सहकारित्वम्।
एवं 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादेः शिष्येण संध्यावन्दनादेः कर्तव्यत्वा-
भिप्रायेण गुरुं प्रति प्रयुक्ताद्वक्तृतात्पर्याभावेऽपि प्रतिवेश्यादीनाम-
भिसरणीयक्रमादिबोधस्य वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकस्य वाच्यार्थ-
बाधज्ञानेऽजायमानस्य लक्षणयोपपादयितुमशक्यत्वाच्च। यत्तु
'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ न व्यञ्जना, एकसंबन्धदर्शनादपर-
संबन्धस्मरणवदुपपत्तेः, इति; तन्न। असंबन्धव्यङ्ग्य-
प्रतीतावस्थासंभवात्। किंच 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादिश्रवणोत्तरं
'संध्यावन्दनकर्तव्यत्वं मया स्मृतम्' इत्यनुव्यवसायाभावात्,
तत्तानुल्लेखाच्च। 'इदं पदमेतदर्थस्य न वाचकम्, नापि लक्षकम्,
नापि स्मारकम्। अपि तु व्यञ्जनया बोधकम्' इति
प्रामाणिकव्यवहारेणाप्यतिरिक्ततत्सिद्धेश्च। एतेन-तदर्थानां
वक्रादिवैशिष्टयप्रतिभादिसहकृतमनसैव विशिष्टधीसंभवात्।
चमत्कारं प्रति शाब्दस्यैव मानसस्यापि चेष्टानुरोधेन हेतुतायाः
क्लृप्तत्वाच्च व्यञ्जनासत्त्वे न मानम्। प्रतिभा च तत्तत्पदपदार्थ-

विषयकसंस्कारोद्बोधको बुद्धिविशेषः। तत्र च तत्तदर्थज्ञानं
वक्रादिवैशिष्ट्यं ज्ञानं च सहकारि-इति परास्तम्॥

‘व्यङ्ग्योऽर्थोऽनुमेयः’ इति त्वयुक्तमेव, विरूढानैकान्तिकेभ्यो
व्याप्तिपक्षधर्मतादिनिर्णयाभावेऽपि व्यङ्ग्यार्थप्रतीततः। किं
च-सिद्धिसत्त्वेऽपि व्यङ्ग्यार्थबोधदशनिन तत्प्रतिबध्यतावच्छेदक-
कोटौ तत्तद्भेदनिवेशेऽतिगौरवापत्या व्या(वैय)ञ्जनिकबोधस्याति-
रिक्तत्वं एव लाघवम्। अन्यथा शब्दप्रामाण्यस्याप्युच्छेदापत्ति-
रित्यन्यत्र विस्तरः। बोधकत्वस्य चेष्टायां सत्त्वेऽपि तन्निष्ठ-
बोधकत्वं न शक्तिः, ‘चेष्टा शक्ता’ इति प्रामाणिक-
व्यवहाराभावात् किं तु तज्जन्यबोधे तज्ज्ञानस्य कारणत्वं
बोध्यम्। तत्तद्वाचकशब्दस्मरणद्वारा चेष्टया बोधः - इत्यपि
कश्चित्। तन्न चेष्टयेडमूकादिव्यवहारानापत्तेः। ‘तस्यापि
जन्मान्तरीयशब्दस्मरणम् इत्यन्ये॥

अत एव निपातानां द्योतकत्वमाकरे उक्तम्। स्फोटस्य च
व्यङ्ग्यता हर्षादिभिरूक्तैव। द्योतकत्वं च समभिव्याहृत-
पदशक्तिव्यञ्जकत्वमेव-इति वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार
आवश्यकः॥

॥ इति श्रीनागेशभट्टविरचितायां
वैयाकरणासिद्धान्तमञ्जूषायां व्यञ्जनानिरूपणम् ॥

